डॉ० केशवदत्त रुवाली

निबंधायन

निबंधायन

सम्पादक

डॉ० केशवदत्त रुवाली,
आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

अनुक्रम

दो शब्द

प्रस्तुत निबंध-संग्रह भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुए तैयार किया गया है। इस प्रकार के अनेक संग्रह विद्यमान हैं, किन्तु उनमें सामान्यत: यह देखने में आता है कि भूमिका के रूप में थोड़ी-बहुत सामग्री देने के बाद बिना किसी निश्चित दृष्टिकोण को अपनाए निबंध ग्रथित कर दिए गए हैं। इस संग्रह में कक्षाध्यापन की अवधि आदि सभी अपेक्षाओं को ध्यान में रखा गया है।

हिन्दी निबंध का विकासात्मक संक्षिप्त परिचय और प्रमुख निबंधकारों पर परिचयात्मक सामग्री देने के उपरान्त तत्त्वत: निबंध की कोटि में आने वाली रचनाओं से प्रतिनिधि संकलन के प्रकाशन की आवश्यकता चिरकाल से बनी हुई थी। प्रस्तुत संकलन उसी दिशा में किया गया नम्र प्रयास है। आशा है, सामान्य पाठकों एवं विश्वविद्यालय स्तर के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। जिन-जिन निबंधकारों के निबंधों को इस संग्रह में ग्रथित किया गया है, उन-उन के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ने इसके वर्तमान संस्करण को प्रकाशित करने में विशेष श्रम किया, एतदर्थ मैं उनके प्रति आभारी हूँ।

अवतार; रानीधारा मार्ग,
अल्मोड़ा–263601
8-1-1998

--केशवदत्त रुवाली

भूमिका

हिंदी निबंध : विकासात्मक परिचय

हिंदी गद्य में निबंध-लेखन भारतेन्दु युग से हुआ। तत्कालीन निबंधों में मॉन्तेन की निबन्धगत मान्यताओं को बहुत-कुछ आत्मसात् किया गया है, क्योंकि उनमें मुक्त मन की तरंग में पाठक से अन्तरंग घनिष्ठता स्थापित करने की विशेषता विद्यमान है। इतना अवश्य है कि उन्होंने स्वयं को निबन्ध का विषय न बनाकर युगीन जीवन को लक्ष्य बनाया है; फिर भी उनमें अद्भुत निजीपन, सजीवता तथा मनोहारिकता विद्यमान है। परवर्ती युग में ऐसे भी निबन्ध लिखे गए जिनमें मुक्त मन की तरंग नहीं मिलती; जैसे—रामचन्द्र शुक्ल, गुलाबराय, हजारीप्रसाद द्विवेदी और नगेन्द्र के अधिकांश निबन्ध।

निबन्ध का मानदण्ड प्रस्तुत करने के लिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।·······आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाए। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाए या जान-बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाए; भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थयोजना की जाए जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोकसामान्य रूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालों की-सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराए जाएँ, जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।"

पाश्चात्य सभी समीक्षकों ने निबन्ध में लेखक की निजता (आत्मनिष्ठता) को अनिवार्य बताया है, परन्तु साहित्य की अन्य विधाओं में भी यह विशेषता पाई जाती है। 'निबन्ध में व्यक्तिगत विशेषता' के आशय को शुक्ल जी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"संसार की हर बात और सब बातों से सम्बद्ध है। अपने-अपने मानसिक संगठन के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्धसूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये सम्बन्धसूत्र एक-दूसरे से नथे हुए, पत्तों के भीतर की नसों के समान चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं, तत्त्वचिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्धसूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्यौरे में नहीं फँसता; पर निबन्ध-लेखक अपने मन की

प्रकृति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।........निबन्ध-लेखक जिधर चलता है, उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि तथा भावात्मक हृदय दोनों लिए हुए। जो करुण प्रकृति के हैं उनका मन किसी बात को लेकर अर्थ-सम्बन्ध-सूत्र पकड़े हुए करुण स्थलों की ओर झुकता और गम्भीर वेदना का अनुभव करता चलता है। जो विनोदशील हैं उनकी दृष्टि उसी बात को लेकर उसके ऐसे पक्षों की ओर दौड़ती है, जिन्हें सामने पाकर कोई हँसे बिना नहीं रह सकता।"

शुक्ल जी की यह भी मान्यता है कि निबन्ध का चरम उत्कर्ष वहीं देखा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर ठूँसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिए हो। इसका मतलब यह हुआ कि शुक्लजी निबन्ध में विचार गाम्भीर्य और भाषा की सामासिकता पर जोर देते हैं; जबकि बाबू गुलाबराय निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव, सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो। **'सीमित आकार'** कहने से संक्षिप्तता पर बल है। **विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव सजीवता** सापेक्षिक शब्द हैं। सच्चाई तो यह है कि एक रचना में जितनी अच्छी या सराहनीय बातें हो सकती हैं, उन सबका इसमें समावेश कर दिया गया है।

जयनाथ 'नलिन' ने निबन्ध को इस प्रकार परिभाषित किया है—"निबन्ध स्वाधीन चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों का सरस, सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकाशन है।" इसमें निबन्ध की प्रायः सभी विशेषताएँ समाविष्ट कर दी गई हैं।

निबन्धगत पूर्वोक्त परिभाषाओं से सहज ही यह निदान निकाला जा सकता है कि निबन्ध की धारा दो छोरों पर प्रवाहित हो रही है—एक धारा में हृदय तत्त्व की प्रधानता है तो दूसरे में बुद्धि तत्त्व की। इतना निश्चित है कि गद्य की इतर विधाओं में लेखक अपने व्यक्तित्व को ओझल रख सकता है, पर निबन्ध में वह उभरने के लिए विवश है। नाना विषय और रूपों का मिश्रण होते हुए भी निबन्ध एक ऐसा निराला रसायन है जिसमें से जो सुगन्ध सर्वाधिक उभरती है—जो स्वाद सभी को आच्छादित किए रहता है, वह व्यक्तित्व है। तात्पर्य यह कि निबन्ध तत्त्वतः आत्मनिष्ठ होता है। निबन्ध में लेखक का व्यक्तित्व इस प्रकार भासित रहता है कि उसका निबन्ध स्वतः पहचान लिया जाता है। निबन्धकार का व्यक्तित्व ही निबन्ध की रीढ़ है, जो कथ्य एवं उसे कहने के ढंग दोनों में उसी प्रकार अनुस्यूत रहता है जिस प्रकार पत्तों के भीतर नसों का जाल।

विषय-वस्तु की दृष्टि से किसी भी महत्त्वपूर्ण-अमहत्त्वपूर्ण विषय पर निबन्ध लिखा जा सकता है, परन्तु उसे इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया हो कि पाठक को

आयास न करना पड़े। जिन निबन्धों में अतिशय शास्त्रीयता अथवा विश्लेषणात्मकता की बोझिलता हो, उन्हें निबन्ध की कोटि में नही रखा जा सकता; जैसे—'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद', 'अभिव्यंजनावाद', 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था'। इन्हें निबन्ध की अपेक्षा लेख कहना अधिक सार्थक है। यों तो शुक्लजी के 'उत्साह', 'श्रद्धा-भक्ति', 'ईर्ष्या', 'क्रोध', 'करुणा' इत्यादि निबन्ध शास्त्रीयता से मुक्त नहीं हैं, किन्तु उनमें वर्णन कौशल के माध्यम से 'बालू में से तेल निकालने' की कोशिश कारगर हुई है। उनमें जो विवेचन-विश्लेषण है वह वर्णन की पृष्ठभूमि पर स्थित है। वर्णन का मतलब यहाँ कथन-भंगिमा है (न कि कोरा 'डिस्क्रिप्शन') जिसमें लेखक पाठक से किसी वस्तु, घटना, भाव या विचार का अविराम ढंग से रोचक वर्णन करता है। कोई लम्बा वार्त्तालाप हृदय को रुचिकर नहीं हो सकता, इसलिए निबन्ध का कलेवर सीमित होना चाहिए।

कभी-कभी लम्बा निबन्ध भी आद्यन्त रोचकतायुक्त होता है; जैसे शुक्ल जी का 'श्रद्धा-भक्ति' निबन्ध छब्बीस पृष्ठों का है और शास्त्रीय होते हुए भी पाठक उसे अन्त तक सुरुचिपूर्वक पढ़ता है। ऐसे निबन्ध अपवाद ही कहे जा सकते है। वैसे निबन्ध का मर्यादित होना आवश्यक है। हर्बर्ट रीड ने स्पष्ट कहा है कि निबन्ध की सीमा साढ़े तीन हजार शब्दों से पाँच हजार शब्दों तक होनी चाहिए। साढ़े तीन हजार शब्दों से कम में लिखा हुआ निबन्ध रेखाचित्र हो जाता है और पांच हजार शब्दों से अधिक में लिखा हुआ निबन्ध एक लेख। निबन्ध के आरम्भ, मध्य और अन्त में संगति या अन्विति आवश्यक है, अन्यथा वह उन्मत्त व्यक्ति का प्रलाप बनकर रह जाएगा।

निबन्ध को परिभाषित करने का प्रयास करना उतना ही कठिन है जितना वायु को वश में करना, तथापि उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निबन्ध की परिभाषा इस रूप में दी जा सकती है—**साहित्य की वह सरस गद्यात्मक रचना निबन्ध है, जिसमें किसी भी साधारण-असाधारण वस्तु या व्यक्ति के प्रति उद्भूत मानसिकता की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति अपेक्षित संगति और एकान्विति के साथ की गई हो।**

हिंदी निबन्ध : उद्भव-विकास

जिस गद्यात्मक रचना को आज हिंदी में निबन्ध नाम से अभिहित किया जाता है वह निर्विवाद रूप से पाश्चात्य साहित्य की देन है। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी के तत्कालीन साहित्यिकों का ध्यान गद्य के विविध रूपों की ओर गया। हिन्दी के प्रथम निबन्ध के रूप में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के 'राजा भोज का सपना' (1839 ई०) का नाम लिया जाता है। कथा-तत्त्व की अधिकता के कारण उसे कथात्मक निबन्धों की कोटि में परिगणित किया जा सकता है। वस्तुतः हिन्दी निबन्ध-लेखन का प्रारम्भ भारतेन्दु

युग से ही हुआ। तब से लेकर आज तक के निबन्ध-साहित्य के क्रमिक विकास को मुख्यतः चार सोपानों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) **भारतेन्दु युग** (1857-1900 ई०)
(2) **द्विवेदी युग** (1900-1920 ई०)
(3) **शुक्ल युग** (1920-1940 ई०)
(4) **शुक्लोत्तर युग** (1940 से अब तक)

(1) **भारतेन्दु युग**—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम पर हिन्दी निबन्ध के आरम्भिक युग को भारतेन्दु युग की संज्ञा दी जाती है। भारतेन्दु के आविर्भाव के समय भारतवर्ष मध्ययुगीन पौराणिक जीवन जी रहा था। नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप नवयुग की अवतारणा के साथ-साथ लेखकों में नव-चिन्तन का उदय हुआ। हिन्दी में इसके अग्रदूत थे—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। उनके समकालीन साहित्यकार किसी-न-किसी पत्र के सम्पादक या लेखक थे। उन सभी में एक विचित्र मस्ती और जिन्दादिली विद्यमान थी। इस प्रकार का स्वभाव पाठकों से सीधे बिना किसी लाग-लपेट के बातचीत करने के लिए उपयुक्त होता है। विषय-वस्तु की दृष्टि से इस युग में धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, आत्मचरितमूलक और व्यंग्यात्मक निबन्ध लिखे गए। शैली की दृष्टि से उनमें वर्णनात्मक औब वार्त्तालाप शैली के दर्शन होते हैं। स्वयं भारतेन्दु (1850-1885 ई०) के साथ-साथ बालकृष्ण भट्ट (1884-1914 ई०), प्रतापनारायण मिश्र (1856-1894 ई०) और 'प्रेमघन' (1855-1923 ई०) उस युग के श्रेष्ठ निबन्धकार हैं। इसका मतलब यह नहीं है इन चारों के अलावा उस समय अन्य निबन्ध-लेखक थे ही नहीं। अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री, गोविन्दनारायण मिश्र, तोताराम, भीमसेन शर्मा इत्यादि के नाम भी उल्लेख्य हैं। अम्बिकादत्त व्यास के अलावा इन फुटकल लेखकों के लेखों में निबन्धात्मकता अपेक्षाकृत कम है।

भारतेन्दु युग के अग्रगण्य निबन्धकार स्वयं **भारतेन्दु** हैं। किसी लेखक के नाम पर विद्या-विशेष के युग का नामकरण होना उसकी महत्ता को एक स्वर से स्वीकारना है। भारतेन्दु के निबन्धों में विषय और शैलीगत पुष्कल वैविध्य मिलता है। पर्वों, त्यौहारों, ऋतुओं से लेकर मित्रता, यात्रा, स्वप्न इत्यादि सभी कुछ भारतेन्दु के निबन्धों के विषय बने। शिक्षा के अनुरूप भाषा का प्रयोग भारतेन्दु की विशेषता है। 'खुशी' शीर्षक निबन्ध में भाषा अरबी-फारसी की ओर झुकी हुई है तो 'संगीत सार' जैसे शास्त्रीय निबन्ध में भाषा तत्समप्रधान हो गई है। उदाहरणार्थ—"हस्त-दिल ख्याह आमूदगी की खुशी कह सकते हैं। यानी जो हमारे दिल की ख्वाहिश हो वह कोशिश करने से या इत्तफाकिया बगैर कोशिश किए आवे तो हमको खुशी हासिल होती है।"—'खुशी' शीर्षक निबन्ध। "भारतवर्ष से सब विधाओं के साथ यथाक्रम संगीत का भी लोप हो गया। यह ज्ञान-शास्त्र हमारे यहाँ इतना आदरणीय

है कि सामवेद के मन्त्र सर्वत्र गाए जाते थे।"—'संगीत सार' शीर्षक निबन्ध। भारतेन्दु ने कुछ मनोरंजक निबन्ध भी लिखे हैं, जिनमें व्यंग्यात्मक शैली दृष्टिगोचर होती है। 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' तथा 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' इसी कोटि के हैं। यह नूतन शैली उन्होंने समसामयिक समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिए स्वीकारी थी। भारतेन्दु जी दो ऐतिहासिक युगों के सन्धि-स्थल पर खड़े थे, इसीलिए उन्होंने न तो प्राचीन की उपेक्षा की और न नवीन का अन्धानुकरण ही किया।

भारतेन्दु मण्डल के दूसरे महत्त्वपूर्ण निबन्धकार हैं—**पं० बालकृष्ण भट्ट।** भारतेन्दु की अपेक्षा इनका निबन्ध की आत्मा से अधिक गहरा परिचय था। यही कारण है कि जिस प्रकार अंग्रेजी निबन्धों के जनक के रूप में मॉन्तेन का नाम लिया जाता है; उसी प्रकार हिन्दी निबन्ध साहित्य में भट्ट जी को यह श्रेय दिया जाता है। उन्होंने लगभग एक हजार निबन्ध लिखे होंगे, जिनमें से करीबन सौ निबन्ध महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अधिकांश निबन्ध 'भट्ट-निबन्धावली' में संगृहीत हैं, जिन्हें स्थूलतः विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक और विवरणात्मक—इन चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। आँख, कान, नाक, आँसू इत्यादि विषयों पर उन्होंने उच्चकोटि के ललित निबन्ध लिखे। भाषा की दृष्टि से वे उदारवादी हैं। सर्व-साधारण में प्रचलित भाषा को प्राथमिकता देते हुए विदेशी भाषाओं के शब्दों का व्यवहार करने में उन्हें संकोच नहीं होता। वे भाषा के प्रवाह में अंग्रेजी के शब्दों को नागरीलिपि में भी लिखते चले जाते हैं; जैसे—"संस्कृत साहित्य के लिए विक्रमादित्य का समय **आगस्टन पीरियड** कहलाता है।" कभी-कभी तत्सम अथवा तद्भव शब्दों के अंग्रेजी पर्याय भी कोष्ठक में लिख देते हैं; जैसे—कसौटी (standard), आत्म-गौरव (self-respect)। मुहावरों का प्रयोग करने में उन्हें बड़ा मजा आता था। इतना ही नहीं, पूर्वी हिन्दी के **समझाय, बुझाय** जैसे शब्दों को भी बे-धड़क प्रयुक्त कर देते हैं। किसी बात पर बल देने के लिए एक शब्द के बाद उसके पर्याय भी रख देते हैं; जैसे—'मुकुर या दर्पण'। उनकी भाषा में व्याकरणिक दोष भी है, जैसे 'अच्छा सन्तान' में लिंगगत दोष स्पष्ट है। साहित्यिक और गम्भीर विषयों के अनु-रूप उनकी शैली भी चलती है। बीच-बीच में संस्कृत साहित्य में उद्धरण भी देते चलना भट्ट जी को विशेष रुचिकर है।

भारतेन्दु युग के शैलीकारों में **प्रतापनारायण मिश्र** का व्यक्तित्व अनोखा है। छोटे-बड़े सब मिलाकर इन्होंने दो-सौ निबन्ध लिखे होंगे। परिमाण में यह संख्या बालकृष्ण भट्ट से कम है, फिर भी दोनों लेखकों के श्रेष्ठ निबन्ध अलग-अलग करके देखें तो मिश्र जी बाजी मार ले जायेंगे। विषय-चयन की दृष्टि से इनका क्षेत्र व्यापक था। इन्होंने 'आप', 'दाँत', 'भौं', 'बात', 'वृद्ध', 'रिश्वत', 'होली' और 'ट', 'द' जैसे सामान्य विषयों पर रोचक निबन्ध लिखे। सामाजिक तथा राजनैतिक विषयों पर

भी उन्होंने लिखा है। मिश्र जी के निबन्धों में सामान्य बोलचाल की भाषा व्यवहृत हुई है। मुहावरों की अपेक्षा कहावतों और उद्धरणों का बाहुल्य है। आवश्यकतानुसार वे तत्सम, तद्भव, देशी, विदेशी, ग्रामीण और भदेस शब्दावली का प्रयोग करते चलते हैं। 'वृद्ध' निबन्ध से अवतरित इस उदाहरण से मिश्र जी की भाषा-शैली का परिचय मिल जाएगा। "यह दया-पात्र जीव हैं, क्योंकि सब प्रकार से पौरुष से रहित हैं, केवल जीभ नहीं मानती, इसके आँय-बाँय-साँय किया करते हैं या अपनी खटिया पर थूकते रहते हैं।........आजकल बहुतेरे मननशील युवक कहा करते हैं कि बुड्ढे खबीसों के मारे कुछ हो नहीं पाता।.........यदि हिकमत से राह पर लाए जाएँ तो बहुत-से बुड्ढे ऐसे निकल आएँगे, जिनसे अनेक युवकों को अनेक भाँति की मौखिक सहायता मिल सकती है। रहे वे बुड्ढे जो सचमुच अपनी सत्यनाशी लकीर के फकीर अथवा अपने पापी पेट के गुलाम हैं वे पहले हईं कै जने? फिर उनका क्या डर है? चार दिन के पाहुना, कछुआ, मछली अथवा कीड़ों की परसी हुई थाली; कुछ अमरौती खाके आए हैं नहीं, कौवे के बच्चे हैं नहीं, दहुत जियेंगे दस वर्ष।" वार्त्तालाप या संलाप शैली में निबन्ध लिखने में वे सिद्धहस्त है। 'आप' शीर्षक निबन्ध को पढ़ते हुए लगता है जैसे छेड़खानी के साथ बातचीत कर रहा है। व्यंग्य-विनोद स्वच्छन्दता, आत्मीयता, रोचकता और सजीवता का समन्वय इनकी शैली की अन्यतम विशेषता है।

भट्ट जी और मिश्र जी की तुलना करते हुए डॉ० मोहन अवस्थी लिखते हैं— "भट्ट जी के निबन्धों में हम बुजुर्ग मित्र का स्वर पाते हैं और मिश्र जी के निबन्धों में हमारा हमजोली लँगोटिया यार बोलता है।........आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भट्ट जी और मिश्र जी की तुलना एडीसन तथा स्टील से की है। पता नहीं, शुक्ल जी ने क्या साम्य देखा है? वैसे मिश्र जी की मौज तथा भट्ट जी की चिड़चिड़ाहट न एडीसन में है न स्टील में। उन दोनों के निबन्ध तो स्केच मात्र है, उनमें भट्ट जी तथा मिश्र जी की वैयक्तिकता नहीं है।" हास्य-व्यंग्य-विनोद मिश्र जी की शैली का प्राणभूत अंश है। कैसा ही विषय हो, हास्य-विनोद का पुट देकर उसे सरस बना देते हैं। इनकी भाषा-शैली में कुछ अपरिहार्य दोष भी हैं, जिनके कारण निबन्ध में शैथिल्य उत्पन्न होने की सम्भावना थी। इन दोषों को जान-बूझकर स्वीकार किया गया है, जो इनके निबन्धों की विशेषता बन गए हैं।

भारतेन्दु युग के एक और उल्लेख्य निबन्धकार हैं—**बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'**। ये रईसी तबियत के व्यक्ति थे और बात-चीत में भी वक्रतापूर्ण वाक्य बोलना उनका स्वभाव था। बाणभट्ट की कादम्बरी इनके गद्य का आदर्श था। अनुप्रासमयी आलंकारिक एवं समासप्रधान शैली में लम्बे-लम्बे वाक्य लिखना उनकी विशेषता है। कभी-कभी वाक्य इतने लम्बे हो जाते हैं कि वे एक पूरा कॉलम ही ले लेते हैं, परन्तु शृंखलाबद्धता के कारण उनमें शैथिल्य नहीं आने पाता। प्रेमघन

जी के निबन्धों की संख्या सीमित है। 'समय', 'दिल्ली दरबार में मित्रमंडली के यार', 'बनारस का बुढ़वा मंगल' उनके बहुचर्चित निबन्ध हैं। उनकी शैली 'गढ़िया और जड़िया' दोनों है। उन्होंने 'आनन्दकादम्बिनी' और 'नागरी-नीरद' पत्र निकाले, जिनके नाम ही इस बात के द्योतक हैं कि उन्हें अलंकृत शैली कितनी पसंद थी।

भारतेन्दुयुगीन निबन्धों को बताया तो जाता है कि वे खड़ीबोली हिन्दी के हैं; किन्तु उनमें पूर्वी, अवधी, बनारसी आदि का इतना सम्मिश्रण है कि उनकी भाषा के सम्बन्ध में स्वतः स्थान-स्थान पर प्रश्नचिन्ह अंकित हो जाता है। भाषा और व्याकरणगत दोष से इस युग का कोई भी निबन्धकार मुक्त नहीं है। विराम-चिह्नों के प्रयोग में भी उन्होंने सावधानी नहीं बरती है।

(2) **द्विवेदी युग**—भारतेन्दुयुगीन लेखकों में निबन्धात्मक व्यक्तित्व तो था, परन्तु भाषा,स्खलन उनका सबसे बड़ा दोष था। वाक्य-विन्यास और विरामचिह्नादि पर भी वे विशेष ध्यान नहीं देते थे। भाषा में कहीं पंडिताऊपन था तो कहीं ग्राम्य और पूर्वी प्रयोग भरे पड़े थे। सन् 1903 में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती' का संपादन-कार्य सँभाला और एक निष्ठावान अध्यापक की तरह समसामयिक लेखकों को व्याकरण-सम्मत हिन्दी भाषा का ज्ञान कराया। इस दिशा में प्रयत्न करने के लिए उन्होंने 'भाषा और व्याकरण', 'विभक्ति विचार', 'हिन्दी लिंग विचार', 'ज्ञ का उच्चारण' इत्यादि लघ्वाकार पुस्तकें भी तैयार कीं। अशुद्धियों के लिए पग-पग पर लेखकों को टोकने से स्वाभाविक था कि द्विवेदीयुगीन निबन्धों में भारतेन्दुयुगीन निबन्धों में विद्यमान प्रवाह, ताजगी और जिन्दादिली का अभाव हो गया। सम्भवतः शुक्ल जी ने इसीलिए इस युग के लेखों को 'बातों का संग्रह' कह दिया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने केवल गद्य में 50 मौलिक कृतियाँ प्रस्तुत कीं। उनका प्रतिनिधि निबन्धसंग्रह है 'रसज्ञ रंजन'। उनका आदर्श बेकन था, जिसके निबन्धों को उन्होंने 'बेकन विचार रत्नावली' नाम से हिन्दी में अनूदित किया। भाषा के सम्बन्ध में वे व्याकरणसम्मत प्रयोग के पक्षपाती थे। उनकी राय थी कि हिन्दी में लिखी जाने वाली पुस्तकें सरल भाषा में हों। जहाँ तक सम्भव हो, संस्कृत की क्लिष्ट शब्दावली प्रयुक्त न की जाए। जो शब्द बोलचाल में आते हैं, फिर चाहे वे फारसी के हों, चाहे अरबी के हों, चाहें अंग्रेजी के ही हों उनका प्रयोग निःसंकोच किया जा सकता है। वाक्य-रचना में द्विवेदी जी आकांक्षा-योग्यता का विशेष ध्यान रखते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'दोनों में मानव हृदय पर किसका……" वाक्य को द्विवेदी जी ने शुद्ध करके लिखा "मानव हृदय पर दोनो में से किसका….।"

द्विवेदी जी की निबन्ध शैली किसी मौलिकता का आग्रह लेकर नहीं चली, फिर भी वे चाहते थे कि ऐसी सरल शैली में विचार व्यक्त किए जाएँ कि पाठक को अभिप्रेत अर्थग्रहण करने में कोई कठिनाई न हो। द्विवेदी जी के 'प्रभात' शीर्षक निबन्ध के अलावा अन्य लेखों में निबन्ध की शर्तें पूरी होती नहीं दिखाई देतीं।

द्विवेदी-युग के निबन्धकारों में द्विवेदी जी का महत्त्व तो भाषा-परिष्कारक के रूप में ही विशेष रूप से उल्लेख है, परन्तु बालमुकुन्द गुप्त (1865-1907 ई०), पं० माधवप्रसाद मिश्र (1871-1907 ई०) सरदार पूर्णसिंह (1881-31 ई०) तथा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (1883-1922 ई०) सच्चे अर्थ में निबन्धकार माने जाते हैं।

बालमुकुन्द गुप्त को प्रवृत्ति की दृष्टि से भारतेन्दुयुगीन निबन्धकारों की श्रेणी में भी रखा जाता है, परन्तु द्विवेदी युग में ही गुप्त जी को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई; इसलिए उन्हें द्विवेदीयुगीन निबन्धकार माना जाना समीचीन है। एक प्रकार से वे भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग को जोड़ने वाली कड़ी हैं। 'अखबारे चुनार' तथा 'कोहेनूर' नामक उर्दू पत्रों के अलावा उन्होंने 'हिन्दोस्थान', 'हिन्दी बंगवासी' तथा 'भारतमित्र' नामक तीन हिन्दी पत्रों का भी सम्पादन किया। 'शिवशम्भु के चिट्ठे' तथा 'चिट्ठे और खत' आपकी लोप्रिय कृतियाँ हैं। आपके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी—निर्भीकता। चाहे लॉर्ड कर्ज़न हों, चाहे महावीरप्रसाद द्विवेदी, यदि गुप्त जी को उनमें दोष दिखाई देता तो वे निर्भीक होकर आलोचना करने से नहीं चूकते थे।

प्रारम्भ में उर्दू पत्रों के सम्पादक रहने के कारण गुप्त जी की भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग मिलना स्वाभाविक है। भाषा के सम्बन्ध में उनका मत है कि हिन्दी में संस्कृत के सरल-सरल शब्द अवश्य होने चाहिए। इससे संस्कृत का उपकार होगा और गुजराती, बंगाली, मराठी इत्यादि भाषा-भाषी लोग भी हिंदी को समझने में कठिनाई का अनुभव नहीं करेंगे। इसी नीति का प्रतिफलन है कि उनकी भाषा हिन्दी-उर्दू मिश्रित स्वाभाविक प्रवाहमयी भाषा है। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग उनकी गद्य-शैली की विशेषता है। छोटे-छोटे वाक्यों में भावाभिव्यंजन करने का उन्हें अच्छा अभ्यास था। शिवशम्भु शर्मा उपनाम से लिखे गए निबन्ध व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों की कोटि में आते हैं।

मार्मिक व्यंग्य करने में वे सिद्धहस्त हैं। लार्ड मिन्टो को सम्बोधित पत्र से एक व्यंग्यात्मक उद्धरण द्रष्टव्य है। "प्रजा और प्रेस्टीज इसी ख्याल में श्रीमान् फँसे हैं। प्रजा ताक का बालक है और प्रेस्टीज नवीन सुन्दर पत्नी। किसकी बात रखेंगे। यदि दशा और वात्सल्य भाव श्रीमान् के हृदय में प्रबल है तो प्रजा की ओर ध्यान होगा, नहीं तो प्रेस्टीज की ओर ढुलकना स्वाभाविक होगा।" 'गुप्त निबन्धावली' नाम से बालमुकुन्द गुप्त के निबन्ध पुस्तकाकर प्रकाशित हो चुके हैं। उनके निबन्धों में उर्दू शैली की रोचकता, सजीवता और प्रभावोत्पादकता प्रतिफलित हुई है।

माधव प्रसाद मिश्र के निबन्ध 'माधव मिश्र निबन्धमाला' में संग्रहीत है : 'सब मिट्टी हो गया' उनका बहुचर्चित निबन्ध है। उनके अधिकांश निबन्ध प्रबन्ध की कोटि में आते हैं।

सरदार पूर्णसिंह भावुक, सहृदय और प्रेमी व्यक्ति थे। ये उदात्त गुण उनकी निबन्ध शैली के अभिन्न अंग बन गए हैं। इनके चार निबन्ध—'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और 'प्रेम', 'सच्ची वीरता' और 'पवित्रता' मिलते हैं, 'सरदार पूर्णसिंह के निबन्ध' नाम से इनके निबन्धों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। इन्होंने आठ या दस से अधिक निबन्ध नहीं लिखे, फिर भी हिन्दी निबन्धकारों में उनका मूर्धन्य स्थान है। उनके निबन्ध का एक-एक, शब्द एक-एक भाव-मुद्रा है—मानों हृदय ही भाषा के रूप में ढल गया है। "भावुकता के आदेश में जैसे कंठ गदगद होने पर आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है, वैसे ही लेखनी से भावनाओं का झरना फूट पड़ता है।..........एक ही बात कहने के लिए अनेकानेक उदाहरण, दृष्टान्त, प्रमाण, तर्कयुक्ति आदि प्रस्तुत करना भी आपकी शैली है।

पंजाबी होने पर भी आपकी भाषा में अनूठा लोच, मार्दव और जादू है, जो सरसता और स्वतंत्रता के साथ प्रवाहपूर्ण अभिव्यक्ति का सुन्दर उदाहरण बनकर पाठक को मुग्ध कर लेता है। वाक्यों का गठन कहीं चुस्त तो कहीं व्यस्त। वाक्य कहीं छोटे हैं तो कहीं फैले हुए। कहीं उर्दू-फारसी का पुट है तो कहीं संस्कृत के तत्सम शब्दों की छटा। आपका निबन्ध पढ़ते ही पाठक पर यही प्रभाव पड़ता है कि जो लेख की अन्तरात्मा में है, वही पाठक के मन में भी उतर आया है।"[1] मुहावरों के सटीक प्रयोग से उनकी भाषा में उदात्तता का समावेश हो गया है; यथा—कान में मंत्र फूँकना, कूच का घड़ियाल बजाना, बाल बाँका न होना, इत्यादि। जहाँ वे वर्णनात्मक हो जाते हैं वहाँ वाक्य छोटे-छोटे रहते हैं; जैसे—"एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिये को देखा। घना जंगल है। गड़रिया आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उनकी आँखों में प्रेम-लीला छाई है।" गम्भीर विवेचन के समय भाषा संस्कृतनिष्ठ और वाक्य लम्बे हो जाते हैं : "बर्फ का दुपट्टा पहनने हिमालय इस समय तो अति सुन्दर, अति ऊँचा और गौरवान्वित मालूम होता है, परन्तु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक-एक परमाणु समुद्र के जल में डुबो-डुबोकर और उनको अपने विचित्र हथौड़े से सुडौल करके इस हिमालय के दर्शन कराए हैं।"

पूर्णसिंह शैली की एक अन्यतम विशेषता है—शब्दों की लड़ी बांधना। एक-सा भाव उत्पन्न करने वाले कई वाक्यों को एक साथ जोड़कर वे लय का-सा आनन्द उत्पन्नकर देते हैं : "न मैं गिरजे में जाता हूँ, न मन्दिर में, न मैं नमाज पढ़ता हूँ, न रोजा ही रखता हूँ.......।" आचार्य शुक्ल ने पूर्णसिंह की शैली के सम्बन्ध में लिखा है कि उनको लाक्षणिक शैली हिन्दी गद्य साहित्य में नई चीज थी और उन्होंने भाषा और भाव की एक नई विभूति सामने रखी।

---

1 हिन्दी साहित्य, तृतीय खण्ड, पृ० 498

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के निबन्धों में हास्यगर्भित पांडित्य की अनूठी छटा है। सामान्य तथा गूढ़ दोनों विषयों पर उन्होंने निबन्ध लिखे हैं। आपके दो निबन्ध 'मारेसि मोहि कुठाऊँ' तथा 'कछुआ-धरम' बहुत प्रसिद्ध हुए। 'संगीत' तथा 'पुरानी पगड़ी' उनके दो अन्य महत्त्वपूर्ण निबन्ध हैं। संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा का उन्हें अच्छा ज्ञान था, इसलिए उनकी भाषा में संस्कृत-अंग्रेजी के शब्द भी व्यवहृत हुए हैं। वाक्य छोटे-छोटे रखते हैं। विषयानुकूल भाषा परिवर्तित कर दोनों उनकी विशेषता है। शैलीगत वैशिष्ट्य एवं अर्थगर्भित वक्रता के सन्दर्भ में गुलेरी जी अद्वितीय हैं।

द्विवेदी युग के अन्य उल्लेख्य निबन्धकार हैं—यशोदानंदन आखौरी, चतुर्भुज औदीच्य, गोविन्दनारायण मिश्र, पद्मसिंह शर्मा और श्यामसुन्दरदास। प्रेमचन्द, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा रामचन्द्र शुक्ल का उदय भी द्विवेदी युग में ही हो गया था, किन्तु इनका निबन्धात्मक भावप्रकाशन जिस उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है, उसका मूल्यांकन एक पृथक् वर्ग के अन्तर्गत होना समीचीन है। इसमें रामचन्द्र शुक्ल का निबन्धकार-व्यक्तित्व सर्वाधिक सशक्त है, इसीलिए परवर्ती युग को शुक्ल युग की संज्ञा दी गई।

द्विवेदीयुगीन निबन्धों की शक्ति और सीमा पर गहराई से विचार करने पर एक उल्लेख्य तथ्य यह सामने आता है कि यह प्रधानतया भाषा-परिष्कार का युग है। विषय-वस्तु और शैलीगत कोई नवीनता भी इस युग में दृष्टिगत नहीं होती। भारतेन्दु युग और शुक्ल युग की संयोजक कड़ी होने के कारण इस युग के ऐतिहासिक विकास-क्रम पर भी दृष्टि डालनी पड़ती है, अन्यथा निबन्ध की आत्मा को पहचानकर लिखे गए निबन्धों की संख्या अत्यल्प ही है। पूर्णसिंह के निबन्धों को निकाल दें तो द्विवेदी युग में मौलिक चिंतन और शैली-सौष्ठव की दृष्टि से नगण्य निबन्ध बचे रह जायेंगे।

(3) **शुक्ल युग**—द्विवेदी युग के अन्तिम सोपान में पूर्ववर्ती बाह्य स्थूलता के स्थान पर आन्तरिक सूक्ष्मता के अंकुर प्रकट होने लगे। इस वर्ग के निबन्धकारों में सर्वाधिक ओजस्वी और प्रखर व्यक्तित्व **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** का है। उन्होंने निबन्ध-लेखन द्विवेदीयुग में ही आरम्भ कर दिया था, किन्तु उनके निबन्धों की मूल चेतना द्विवेदीयुगीन निबन्धों की तुलना में विशिष्टता लिए हुए थी। उनके भाव और मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध तथा साहित्यशास्त्रीय निबन्धों ने जो नया आदर्श सम्मुख रखा, उसके आधार पर हिन्दी-निबन्ध साहित्य के इतिहास में 1920 ई० के बाद 1940 ई० तक का समय 'शुक्ल युग' से अभिहित किया जाना युक्तियुक्त है। चिंतन की मौलिकता, विवेचन की गम्भीरता, विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं शैलीगत प्रौढ़ता के साथ-साथ शुक्ल जी के निबन्धों में वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं व्यंग्यात्मकता का भी पुट मिलता है। भारतेन्दु युग के लेखक मन की मौज में लिखते थे; द्विवेदीयुगीन लेखक तथ्य-कथन पर बल देते थे, किन्तु आचार्य शुक्ल ने विषय एवं व्यक्तित्व का

ऐसा समन्वय प्रस्तुत किया कि उन्हें न तो वस्तुनिष्ठ-कहा जा सकता है और न व्यक्तिनिष्ठ। वस्तुत: उनके निबन्ध आत्मव्यंजक या भावात्मक तो किसी प्रकार नहीं कहे जा सकते—हाँ, इतना अवश्य है कि बीच-बीच में आत्मपरक अंश आ गए हैं; पर ऐसे अंश इतने कम हैं कि उनको प्रमाण नहीं माना जा सकता। उनके निबन्ध अत्यन्त गहरे रूप में बौद्धिक एवं विषयनिष्ठ हैं। उन्हें हम ललित निबन्धों की कोटि में नहीं रख सकते; पर इन निबन्धों से जो गम्भीरता, विवेचन में जो पांडित्य एवं तार्किकता तथा शैली में जो कसाव मिलता है, वह इन्हें अभूतपूर्व दीप्ति दे देता है।"[1]

शुक्ल जी ने मौलिक और अनुदित कई निबन्ध लिखे, जिनमें से महत्त्वपूर्ण निबन्ध 'चिन्तामणि' नामक संग्रह में दो भागों में प्रकाशित हुए हैं। 'चिन्तामणि' भाग-1 में 17 तथा 'चिन्तामणि' भाग-2 में 3 निबन्ध संकलित हैं। एक सुनिश्चित प्रणाली का अनुगमन करते हुए विषय-प्रतिपादन करना शुक्ल जी की विशेषता है। विचारधारा गहन-गम्भीर होने के कारण उनकी भाषा-शैली भी असाधारण है। उनकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित तत्सम-प्रधान और प्रांजल है। उन्होंने समर्थ एवं भावव्यंजक नूतन शब्दों का निर्माण भी किया। साहित्यशास्त्र अथवा आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने कई ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया जो उनसे पहले किसी ने भी प्रयुक्त नहीं किए थे। शुक्ल जी का शैलीगत सौन्दर्य विषय के विश्लेषण एवं व्याख्या में देखा जा सकता है। "विश्लेषण के लिए साम्य-वैषम्य का प्रदर्शन, व्यास और समास शैली का ग्रहण, आगमन तथा निगमन पद्धति का सम्यक् समन्वय इनके निबन्धों में सर्वत्र देखा जा सकता है। सूत्रात्मक परिभाषाएँ देकर उनकी सविस्तार व्याख्या तो शुक्ल जी की विशिष्ट शैली ही समझी जानी चाहिए।"[2] उन्होंने निबन्ध-कला को उस ऊँचाई पर पहुँचा दिया, जहाँ से देखने पर पूर्ववती अधिकांश लेखक बौने प्रतीत होते हैं और सच तो यह है कि निबन्धकार के रूप में वे अब भी अद्वितीय हैं।

शुक्ल-युग के अन्य उल्लेख्य निबन्धकार है—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बाबू गुलाबराय, सियारामशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी पाण्डे बेचन शर्मा 'उग्र'; रघुवीर सिंह, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, शांतिप्रिय द्विवेदी, राय कृष्णदास, वियोगी हरि, इत्यादि। यह युग वस्तुत: हिन्दी निबन्ध का उत्कर्षकाल है। विचारों की सूक्ष्मता के अनुकूल नए-नए शब्द भी इस युग में निर्मित किए गए। संस्कृत और अंग्रेजी काव्यशास्त्र का अध्ययन-विश्लेषण कर कई ऐसे शब्द गढ़े गए जो हिन्दी की प्रकृति में सहज ही पच गए। विचारपूर्ण गहन-गम्भीर विषयों की तुलना में सांस्कृतिक तथा सामाजिक विषयों पर अपेक्षाकृत कम निबन्ध लिखे गए। इस सीमा को

---

1 हिन्दी साहित्यकोश : भाग 2, पृ० 479

2 हिन्दी साहित्य : तृतीय खण्ड, पृ० 505

स्वीकार करने के उपरान्त इतना असंदिग्ध है कि हिन्दी निबन्ध के इतिहास में शुक्ल युग को निबन्ध का 'स्वर्ण युग' नाम से अभिहित करना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है।

(4) **शुक्लोत्तर युग**—इसे वर्तमान युग भी कहा जा सकता है। इस युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की गद्य-शैली का व्यापक प्रभाव लक्षित होता है। विचारात्मक निबन्धों की अधिकता होते हुए भी भावात्मक निबन्धों का अभाव नहीं मिलता। इस युग के उल्लेख्य निबन्धकार हैं—हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, महादेवी वर्मा, रामविलास शर्मा, जैनेन्द्रकुमार, रामधारीसिंह 'दिनकर', गजानन माधव मुक्तिबोध, अज्ञेय, विद्यानिवास मिश्र हरिशंकर परसाई, कुबेरनाथ राय, धर्मवीर भारती इत्यादि।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों का आनन्द लेने के लिए जगह-जगह बिखरे सांस्कृतिक-साहित्यिक संदर्भों की जानकारी अपेक्षित रहती है। संस्कृत के प्रकांड ज्ञाता होने के कारण द्विवेदी जी की भाषा संस्कृतनिष्ठ और परिमार्जित है। वे आवश्यकतानुसार बहुप्रचलित विदेशी शब्दों का भी व्यवहार कर लेते हैं। गम्भीर विषयों पर लिखे गए निबन्धों में मुहावरों और कहावतों का अभाव-सा है। अपने मत की पुष्टि में बीच-बीच में संस्कृत की सूक्तियाँ भी उद्धृत करते चलते हैं; यथा—'सत्यमेव जयते नानृतम्' आदि। **आशा-आकांक्षा, जटिल-जाल, छल-छद्म** जैसे शब्द-युग्मों का प्रयोग उन्हें विशेष रुचिकर है। शैली की दृष्टि से शुक्ल जी में गुम्फन है तो द्विवेदी जी में विशद व्यापकता। आत्मपरक, व्यंग्यात्मक आदि विभिन्न शैलियों पर असाधारण अधिकार होने के कारण वे किसी शैली-विशेष में बँधे रहना पसंद नहीं करते।

डॉ० नगेन्द्र शुक्लोत्तर युग के सशक्त निबन्धकार हैं। उनके निबन्धों और लेखों का संग्रह 'आस्था के चरण' नाम से प्रकाशित हुआ है। अन्के निबन्धों में चिंतन की प्रधानता रहती है, जिनमें अत्यन्त प्रौढ़, तर्कपूर्ण एवं विश्लेषणात्मक शैली का उत्कर्ष देखने में आता है। उन्होंने कतिपय निबन्ध संवादात्मक एवं पत्रात्मक शैली में भी लिखे हैं। जब तक वे किसी भाव या विचार को पचा नहीं लेते तब तक उसे अभिव्यक्त नहीं करते। वे एक ही विषय को अनेक पार्श्वों से देखने-परखने के बाद उसे निबन्ध के रूप में व्यक्त करते हैं। शब्द-प्रयोग के सम्बन्ध में वे अत्यधिक सावधानी बरतते हैं। विचारात्मक निबन्धों में भी उनके व्यक्तित्व की आद्यंत व्याप्ति मिलती है। जिन निबन्धों में सिद्धान्त-विवेचन हुआ है, उनमें गम्भीर वातावरण के बीच भावात्मकता की सृष्टि करने की अद्भुत प्रतिभा भी नगेन्द्र में है। उनके निबन्धों में गम्भीरता के साथ-साथ हास-परिहास, चुहल, व्यंग्य, संलाप और स्वप्न के मनोरम वातावरण की अवतारणा मिलती है। यही कारण है कि गम्भीर शास्त्रीय या समीक्षात्मक निबन्धों में भी कथा-साहित्य की-सी रसनीयता उत्पन्न हो जाती है।

रामविलास शर्मा प्रगतिशील विचारधारा के अनन्य निबन्धकार हैं। उन्होंने भाषा, साहित्य और समाज पर उच्चकोटि के विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं। 'प्रगति और परम्परा', 'साहित्य और संस्कृति', 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' इत्यादि शर्मा जी के निबन्ध-संग्रह हैं। समाज के शोषित वर्ग के प्रति उन्हें विशेष सहानुभूति है। अपने अभीष्ट को सम्प्रेषित करने के लिए ये व्यंग्यात्मक शैली का आश्रय लेते हैं। इनकी प्रखर व्यंग्यात्मक शैली पाठकों पर अचूक प्रभाव छोड़ती है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' यद्यपि कवि के रूप में ही विख्यात हैं, तथापि उनका निबन्धकार-व्यक्तित्व भी अत्यन्त प्रभावशाली है। 'माटी की ओर', 'अर्द्ध-नारीश्वर', 'रेती के फूल' इत्यादि उनके श्रेष्ठ निबन्ध संग्रह हैं। उन्होंने छोटी-छोटी समस्याओं पर भी गहराई से विचार किया है और तर्कपूर्ण ढंग से समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया है। मूलतः कवि होने के कारण वैचारिक निबन्धों में भी कवि-हृदय की झलक बराबर मिलती है। उनकी भाषा में ओज, तेज और जिन्दा-दिली मिलती है। भाषा व्याकरणसम्मत है और अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी के बहुप्रचलित शब्दों को निस्संकोच ग्रहण किया गया है।

हरिशंकर परसाई युगचेता व्यंग्यकार हैं। 'बेईमानी की परतें', 'सदाचार का ताबीज', 'तट की खोज', 'तब की बात', 'और अन्त में' इत्यादि परसाई जी के निबन्ध-संग्रह हैं। वर्तमान जीवन की विकृतियों और विडंबनाओं के वे सच्चे मंत्र-द्रष्टा हैं। श्लेष, ब्याज-स्तुति और ब्याज-निन्दा के माध्यम से उनके तीक्ष्ण व्यंग्य-वाण सामाजिक, विसंगति, पाखण्ड, दिखावटीपन और विकृतियों की धज्जियाँ उड़ा देते हैं। उनकी भाषा में न तो तत्सम शब्दों के प्रयोग का आग्रह है और न भदेस शब्दों का व्यवहार। स्वाभाविकता की सृष्टि करने के लिए उन्होंने अरबी, फारसी और अंग्रेजी के शब्दों को निस्संकोच प्रयुक्त किया है। उनकी शैली विशुद्धतः व्यंग्यात्मक है। वाक्य-गठन संयत तथा वाक्य छोटे-छोटे होते हैं। बीच-बीच में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी करते हैं। उनकी शैली में एक ऐसा निजीपन विद्यमान है कि पाठक निबन्ध को इतने मनोयोग से पढ़ता है, कि मानो किसी की रसभरी बात सुन रहा हो।

विद्यानिवास मिश्र ललित निबन्धकारों में मूर्धन्य स्थान रखते हैं। इस कोटि के निबन्धों का संग्रह 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। पश्चिम के साहित्यों और संस्कृतियों के गहन परिचय ने मिश्र जी की भारतीयता को और अधिक पुष्ट किया है। इस सन्दर्भ में अज्ञेय जी के उद्गार उल्लेख्य हैं : 'ललित निबन्ध' नाम रूढ़ हो गया है, पर लालित्य लोक-संस्कृति के निकट संस्पर्श में भी आ सकता है, संस्कृति काव्य के गहन ज्ञान से भी और सबसे बढ़कर लेखक के मनोजगत् में विचार-स्मृति और कल्पना के उस योग से जिसे भावना

ने एक मधुर सूक्ष्म रंगत दी हो। इसी से व्यक्तिपरक निबन्ध में व्यक्तित्व की विशिष्ट छाप झलक आती है। इस प्रकार के रंजित सर्जनात्मक गद्य के रचयिताओं में विद्यानिवास मिश्र अग्रगण्य हैं। उन्होंने संस्कृत साहित्य को मथकर उसका नवनीत चखा है और लोक-वाणी की गोरज-गंध से सदा स्फूर्ति पाते रहे हैं। ललित निबन्ध वे लिखते हैं तो लालित्य के किसी मोह से नहीं; इसलिए कि गहरी, तीखी, आमन्त्रण या चुनौती भरी बात भी वे एक बेलाग और निर्द्वंष बल्कि कौतुकभरी सहजता से कह जाते हैं।"........उनके निबन्ध लालित्य उड़ेलते नहीं, पाठक के मन में उपजते हैं, यही उनकी रोचकता का रहस्य है।"

—डॉ० केशवदत्त रुवाली

संकलन

1
आत्म-गौरव

बालकृष्ण भट्ट

नये और पुराने फैशन के भाँत-भाँत के पहनावे चल पड़े हैं जिसे पहन हम ऊँचे से ऊँचे दरजे के लोगों के साथ बेखटके मिलजुल सकते हैं किन्तु मन की वृत्तियों को ऊँचे दरजे पर पहुँचाने को केवल आत्मगौरव एक ऐसी पोशाक है जिसे पहन मनुष्य न केवल छोटे-बड़े सब लोगों में प्रतिष्ठा ही पाने का अधिकारी होता हैं वरन् नीचा काम, नीची बात, नीच आचरण से सदा अपने को बचाता रहता है। ऐसों के लिए मानहानि सबसे बड़ी हानि है। जीने से हाथ धो बैठना उनके लिए अच्छा है किन्तु अपना गौरव न रख जीना अच्छा नहीं—

"रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै मोती मानस चून।"

जिनको अपनी प्रतिष्ठा और गौरव का ख्याल है वे न केवल नीचा काम करने से अपने को अलग रखते हैं बल्कि "आत्मोत्कर्ष विधान' अपनी तरक्की अपने निज बाहुबल से क्यों कर हो सकती है इसे भी वे ही जानते हैं। वास्तव में विचार कर देखिए तो आत्मोत्कर्ष विधान ही का एक दूसरा नाम आत्म-गौरव है। बड़े कष्ट की दशा में पड़कर भी ऐसे लोग धीरज के साथ चुपचाप अपने गिरे दिन की दुर्गति भोग लेते हैं पर मोती सी आब नहीं गँवाया चाहते :—

सर्वः कृच्छगतोपि वांछति नन सत्वानुरूपं फलम्।"

गरीबी और निर्धनता में तो आत्म-गौरव बड़ा भारी धन है जिसने अपनी पत नहीं गँवायी और अपना गौरव बनाये हुए है समाज में वह वैसी ही प्रतिष्ठा और इज्जत पाने का दावा रख सकता है जैसा धनी अपने असंख्य धन के द्वारा पाता है।

आत्म-गौरव एक प्रकार का साधन है जिसे बचाये रखना सहज काम नहीं है। यावत् बुराइयों से अपने को अलग रख सके तब आत्म-गौरव पाने का दावा

कर सकता है। अपने आत्म-गौरव का निबाह करने वाला मैला काम प्राण निकलने की दशा पर भी करने में सकुचायगा। अपनी बड़ी से बड़ी हानि सह लेगा पर उचित बात से न हटेगा। बेईमानी के अपवाद से बचने को लेन-देन में साफ रहेगा। वित्त के बाहर कोई काम न करेगा। ऊपरी बनावट और ज़ाहिरदारी को ज़हर के समान बरकावेगा। पक्षपात का लेश भी अपने में न होने देगा। हमारी बात कदाचित् झूठ न निकले इसलिए बिना सोचे-समझे एक-शब्द भी मुँह से न निकलेगा। सारांश यह है कि आत्म-गौरव चरित्र-संशोधन की पहली सीढ़ी है। मनुष्य में चरित्र की पवित्रता की अन्तिम सीमा भी यही है। भलमनसाहत की कसौटी है। स्वर्गद्वार की सोपान परम्परा है। हम सबों के जीवन का उत्तम परिणाम है। सीधे और सरल मार्ग पर बेखटके चलने वाले संसारचक्र की धुरी है। इत्यादि, इत्यादि।

दुख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, तो दुख काहे को होय॥

ऊपर का वाक्य महात्मा कबीरदास के मन के मौज की बानगी है। ध्यान देने की बात है कि दुःख में ऐसी कौन-सी बुराई समझी जाती है कि लोग उससे दूर भागते हैं कि और सुख में कौन-सी ऐसी भलाई है कि सभी उसे चाहते हैं। द्वन्द्वातीत-पूर्ण ज्ञानी जिन्हें ब्रह्म या आत्मा का साक्षात्कार है उनके मत में सुख-दुख कुछ हुई, नहीं ये दोनों केवल मान लेने की बात हैं। रहे अज्ञान-तिमिर में टटोलने वाले हम लोग सांसारिक जीव जो दिन-रात इसी चेष्टा में रहते हैं कि दुःख से बचें और सुख सन्देह में मग्न रहें उन्हीं पर इस सुख-दुःख का अविर्भाव तिरोभाव हुआ करता है।

तो निश्चय हुआ कि वास्तव में सुख या दुःख दोनों कुछ नहीं हैं केवल हमारे ही चित्त की दुर्बलतामात्र हैं। सच तो यों है कि दुःख कभी-कभी मनुष्य को उस घनघोर महाविपत्ति की सूचना देता है जो इसे समूल नाश कर देती है, इसलिए दुःख जीवों का रक्षक और समूल नाश से उन्हें बचाने वाला है। जब तक दुःख न हो तब तक सुख को कोई क्या समझ सकता है जैसे बिना गरमाहट के ठण्ड को कोई क्या जाने, कहावत भी है—

"जानै ऊख मिठास को जब मुख नोन चबाय"

मान लीजिये सुख ही सुख होता दुःख का कोई नाम तक न जानता होता तो इस संसार की क्या दशा होती। मैं समझता हूँ तब यह दृश्य जगत् संसार इस नाम से कभी न कहा जाता क्योंकि संसार तो वही कहा जा सकता है जो सदा एक रूप न रहे। "संसार सम्पूर्वक सृ धातु से बना है जिसके माने चलने के हैं" जब सुख के कारण सब एक आकार जड़वत् हो गये तो फिर इसमें रही क्या गया बल्कि तब तो यह संसार उससे अधिक फीका होगा जितना दुःखी को दुःख की दशा में बोध होता है। दूसरे दुःख ही मनुष्य को उभाड़ने वाला है और अपने में उभड़ने की इच्छा ही से मनुष्य दुःख उठाकर भी उससे परे होने की अभिलाषा रखता है दुःख को बरकाना

या उसे कम करने ही का काम भाँत भाँत की तरक्की और उन्नति है। बड़े-बड़े सभ्य देश और जाति जो आज दिन उन्नति के शिखर पर हो रही हैं पहले अत्यन्त क्लेश और दुःख झेल कर उन्नति की इस चरम सीमा को पहुँची हैं। बिना क्लेश उठाये सुख और ख्याति तो कभी मिलती ही नहीं इसलिए सुख का हेतु भी हम दुःख ही मानेंगे। यदि सिंह आदि शिकारी जानवरों को अधिक भूख न होती और साधारण पशुओं के समान केवल घास-पात से पेट भर वे भी सन्तुष्ट रहते तो क्या वे इतने मजबूत होते और यदि हिरन, खरगोश आदि जीवों को सिंह आदि शिकारी जानवरों से भय न रहता तो वे क्या इतना तेज और वेगगामी होते। यदि भूख का दुःख न होता तो अमृत समान भाँत भाँत के सुस्वाद भोजन का सुख हम क्या जानते। दुःख न होता तो पत्थर से भी अधिक कड़े कलेजे वाले को कौन पिघला कर पानी कर सकता। दुःख न होता तो सुख में फूल सब लोग मारे अभिमान के किसी को कुछ माल ही न गिनते। दुःख न होता तो हिम्मत और धीरज का कहीं नाम भी न रहता। दया का प्रस्ताव कहीं न देखा जाता। सुधार और उन्नति किस आसमान का पखेरू है कोई भी न जानता। सोने की स्वच्छता तभी मालूम होती है जब आँच में धर तपाया जाता है। इसलिए दुःख सब प्रकार सुख का कारण है जैसे भूख की निवृत्ति पेट भरने पर होती है और पेट खाली हो जाने पर फिर भूख सताती है इसी तरह दुःख के उपरान्त सुख, सुख के उपरान्त दुःख इस क्रम से इन दोनों का एक चक्र चल रहा है जिससे निश्चय होता है सुख दुःख में एक प्रकार का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

अब सबसे बड़ा दुःख मरना है यदि मौत न होती तो क्या जीव समूह इतनी बढ़ती पर भी ऐसे ही सुखी रहते जैसे अब हैं फिर यदि मौत न होती और नई सृष्टि न पैदा होती तो क्या दुनिया की ऐसी ही तरक्की बराबर होती रहती जैसी अब हो रही है। निस्सन्देह लोग कुछ चतुर और सयाने होते वे ही कुछ करते, बाकी सब लोग घोंघा बने रहते और तरक्की करने वालों की तायदाद इतनी अधिक न होती। फिर यदि पैदायश होती और मौत न होती क्या दशा मनुष्यों की होती। आप ही सोच लें पानी भी पीने को न मिलता, साफ हवा का तो कहीं पता भी न रहता, न रहने को स्थान रह जाता। इसी से समझ लेना चाहिए कि दुःख भी कहाँ तक सुख का साधन है और संसार की कितनी तरक्की इससे है। इन्हीं सब बातों का पूर्वापर सोच-विचार गीता में स्थिरधी होने का मुख्य लक्षण **"दुःखेष्वनुद्विग्निमना सुखेषु विगतस्पृहः"** रक्खा गया है।

और भी दुःख से वैराग्य, वैराग्य से ज्ञान, ज्ञान से मोक्ष इस तरह परम्परा सम्बन्ध के द्वारा अन्त को मोक्ष तक का कारण दुःख होता है बल्कि इसे मोक्ष की पहली सीढ़ी कहना उचित है। जैसे अपराधी अपने किये हुए अपराध का दण्ड भोग उस अपराध से छुटकारा पाता है वैसे पापी अपने पाप कर्म का फल दुःख और यातनायें भोग सुख-स्वरूप मुक्ति का अधिकारी हो सकता है। तो सिद्ध हुआ कि दुःख

एक प्रकार का ऐसा विमल जल है जिसमें स्नान कर मनुष्य सुगमता से शान्ति के मन्दिर में प्रवेश पा सकता है जहाँ जाकर इसे उत्कृष्ट सुख का दर्शन अति सुलभ है ।

'अशान्तस्य कुतः सुखम् ।'

तो ईश्वर का स्मरण और चित्त में शान्ति पैदा करने का दुःख से बढ़कर कौन दूसरा द्वार हो सकता है ।

विपदः सन्तु नः शश्वत् यासु संकीर्त्यते हरिः ।

दूसरे दुःख न होता तो मित्र और बेगानों की परीक्षा की फिर क्या कसौटी (Standard) रह जाती है । उपकार प्रत्युपकार आदि शब्दों के अर्थ की चरितार्थता ही संसार से लोप हो जाती, न धीरज ही को कहीं प्रकट होने का अवकाश मिलता जो महात्मा महापुरुषों के अनेक उत्तम गुणों में पहिला है ।

'विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा'

इत्यादि । दुःख की अब और अधिक तान अलापेंगे तो डर लगता है कि कहीं पढ़ने वाले रूठ न जायँ कि आज किस मनहूस से काम पड़ा इससे बहुत हुआ बस ।

2
समय

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ।।

यह विख्यात है कि त्रिभुवन में विजय की पताका फहराने वाला, अपने कुटिल कुत्सित परिवार से ब्राह्मणों को दुःख देने वाला बली, प्रतापशाली, मायावी रावण जब भगवान् रामचन्द्र के रुधिरपाई बाणों से छिन्न-भिन्न हो पृथ्वी पर अपना पर्वत सरीखा अपार शरीर लिए गिरा, और आकाश त्रिभुवन के हर्षनाद से पूरित हो गया, और अन्तिम झटके उसे श्वास के आने लगे, अब अपने जेता के पूछने पर उसने कहा—"आवश्यक कृत्यों के सम्पादन में विलम्ब करना उचित नहीं। मैंने दो-तीन कृत्य करना आवश्यक समझा था और उसे टालता चला आता था, आज उन्हीं के न करने से मुझे शोक है, और उन्हीं भूलों का फल मुझे तत्काल ही मिलेगा!" रावण यह नहीं जानता था कि त्रिभुवन त्राणदाता के सामने वह क्या कह रहा है। जब उसे स्वयं उन्हीं ने अपने हाथों से निधन किया तो अब इसके आगे उसे क्लेश मिल ही क्या सकता था निश्चय जब अवसर चला जाता है, हाथ मलना ही भर रह जाता है। आलस्य से भरे भद्दे स्वभाव में बेकार बैठे रहने की इच्छा प्रबल होती है और जी यही कहता है आज नहीं कल, कल नहीं परसों यह करेंगे, जिसको तत्काल ही कर डालना उचित है, यह बात बुरी है। जब तक किसी कृत्य को अपना कर्त्तव्य समझा मनुष्य दृढ़ उद्देश्य से उसे न करेगा, कर्त्तव्य शून्य स्वभाव-अलहदी बन जायगा। आलस्य लोहे की मुर्चा सी लिपट जौहर खा जायगी फिर किसी कार्य के करने का उत्साह जाता रहेगा। क्या आश्चर्य कि "छाती पर की मूलर" मूं में डालने को दूसरे से कहना हो।

संसार में मनुष्य को जो कुछ सीखना, करना और निपटाना है उसके अर्थ समय बहुत ही कम मिला है; उसके जीवन के दिन गिने भये हैं, इससे इसको व्यर्थ न जाने देना चाहिए ।

यदि अपने समय के प्रत्येक पल की चिन्ता मनुष्य रक्खे तो थोड़ी आयु को भी बहुत बढ़ा सकता है, जिसे वह एक मास में कर सकेगा उसी को बहुतेरे जीवन पर्यन्त में भी नहीं कर करेंगे । यदि उसका ध्यान उचित और उत्तम कृत्यों में निमग्न है तो समय सुख से व्यतीत करता है नहीं तो बहुतेरों का जीवन भारभूत सा हुआ रहता है । दिन-रात जम्हाते बीतना है इनकी दीर्घ-सूत्रता और रात-दिन के बर्ताव को देखने से यही जान पड़ेगा कि मानों ये अपने को अमर समझे हुए हैं । बहुतेरे खूब खाकर पेट पर हाथ फेरते पान कूचते तकिया आश्रय ले पलंग पर जा सो जाते हैं और बारह चौदह घण्टा अपना समय नींद में खोते हैं । वैद्यों और डाक्टरों का मत है कि छः घण्टा शारीरिक स्वास्थ्य के निमित्त सोना उपयुक्त है । यदि इतना ही सोने का अभ्यास किया जाय तो कितना समय बच सकता है । अधिक सोने से केवल समय हानि ही नहीं होती, शरीर के जितने अवयव हैं, शिथिल और अयोग्य हो जाते हैं और 12 घण्टे सोने के बाद उतनी ही व्याकुलता और अशक्तता कार्य करने में होती है । शरीर और मन दोनों को इससे हानि पहुँचती है । फिर खाने के पश्चात् तुरन्त सो जाने से आलस्य हाड़फूटन, अपच, म्लानता, शिरोव्यथा होती है, यद्यपि नींद झटपट आ जाती है ।

यदि मनुष्य अपने अमूल्य समय को न खोना चाहे तो उसे क्षुद्र कामों में प्रवृत्त होना न चाहिए । ऐसे कृत्यों का करना अनुचित है जिसे पीछे समझ मनुष्य लज्जित होता है और पछताता है । मनुष्य को अपने पद और योग्यता के अनुसार काम करना उचित है । यदि राज्य का भार आप पर है और आपने नाचने गाने में कथक कलावन्तों को मात किया, कपड़े सीने में दरजी को हटाया, वा बहुत उत्तम पाक बना लिया तो क्या इससे आपकी ख्याति होगी वा आपके राज्य का काम सरेगा । गत हजरत नवाब वाजिदअली शाह को यदि किसी ने कैसर बाग की बारह-दरी के भरे महफिल में पेशवाज पहिने नाचते देखा होगा, कभी भी भला बतला सकता था कि ये धुरीण हैं जो इस तरह गाने में कठिन से कठिन मोड़े ले रहे हैं, और अपने नाचने, बनने, बतलाने और भाव से गुणग्राही रसिक मंडली का चित्र-सा खींच दिये हैं वा 'इन्दरसभा' में गुल्फान बने, अपनी माधुरी मूर्ति और सुरीले स्वर से चमचमाती जवाहिर से जड़ी एकता अनूठी सब्जपरी को भुलाये हुए हैं और उसके यह कहने पर कि 'अरे मैं वहाँ तुझसे कहती थी, क्यों न नाना हाय तूने मेरा कहा' मूँ लटकाये हुए हैं वा बसन्ती पट पहिने सैकड़ों केसर रंगी सुमुखियों के खोजने पर भी नहीं मिलते । भूलभुलैया खेय रहे हैं और लंका की सीढ़ियाँ कामिनियों के सहारे उतर चढ़ रहे हैं । क्या ही उत्तम कृत्य ये राजा के है जिस पर करोड़ों की रक्षा का भार है ! कैसी अवस्था की बरबादी है ।

बहुतेरे शारीरिक सजावट ही में अपना समय बहुत खोते हैं, घण्टों कपड़ा पहिनने, बाल बनाने में लग जाते हैं, पर इससे क्या सिद्धि होगी ? ठोढ़ी चिकनी, बाल छल्लेदार बनेंगे ? शरीर का स्वच्छ रखना स्पृहणीय है, परन्तु क्या कभी अस्तबल में बँधा, जलेबी और महेला खाता चिकना सुन्दर घोड़दौड़ में जीता बचेगा, वा सांसारिक सग्गड़ को डीलदार भूसे से पेट भरने वाले बैलों के समान खींच सकेगा । कोई बटेर को पंजे में दाब घण्टों उसकी टँगड़ी खींचा करते, बुलबुल उँगली पर बिठा अड्डे पर उछाला करते, तीतिर को दीमक के वास्ते घुमाया करते, बाज के संग आखेट में जंगलों में बहेलियों से भरमा करते, शतरञ्ज चौपड़ खड़-खड़ाया करते, ताश गञ्जीफा फेरते, साल भर टँय्यों की सो रही चिकनी करते हज़ारों का हेर-फेर किया करते हैं । यही काम यहाँ के बड़े आदमियों को करना उचित है ! क्या ही अँधेर है, एक दो दिन कौन कहे जीवन भर इसी में बीत जाता है ।

प्रातःकाल उठ मनुष्य को विचार कर निर्णय कर लेना उचित है कि उसे उस दिन क्या क्या और कितना करना है, तब उसके करने में तुरन्त प्रवृत्त हो जाना उचित है । किसी उत्तम दशा के आने पर या वर्तमान दशा के परिवर्तन पर किसी नूतन और लाभदायक कृत्य को करेंगे विचारना व्यर्थ है । केवल उन क्षणों को जो व्यर्थ बीते जा रहे हैं । यदि सम्भाल लो तो सब कुछ हो सकता है और समय का उचित बर्ताव तभी होगा जब नियम वा क्रम से मनुष्य अपने समय को बाँट देगा । जिसने ऐसा अभ्यास नहीं डाला है उसे वह आनन्द नहीं मिल सकता है जो उनको मिलता है जिनकी नैमित्तिक क्रियायें चाहे वे कैसी ही कठिन क्यों न हों नियमित समय पर की जातीं और आवश्यक अवकाश जी बहलाने को छोड़ जाती हैं ।

संसार में बहुत से ऐसे मनुष्य हैं जो अपने समय का उत्तम विभाग न कर जब जो चाहा करते हैं, जिसका फल यह होता है कि जितनी कार्यवाहियाँ उनकी होतीं अधूरी रह जातीं । इससे यदि दृढ़ संकल्प से किसी कार्य पर सन्नद्ध हो मनुष्य उसका यथोचित विभाग कर करना विचारेगा तभी वह उसे कर सकेगा, अव्यवस्थित चित्त कभी कुछ भी नहीं कर सका है । समय के खोने वालों को समय का यथार्थ रूप नहीं जान पड़ता, हाँ एक दिन अवश्य इसका आदर उन्हें होगा, और वह तब कि जब क्षण के शतांश के भी पाने की प्रार्थना उनकी व्यर्थ होगी, तभी अपने अमूल्य जीवन की फेंकी घड़ियों का मूल्य उन्हें यथार्थ में समझ पड़ेगा । परन्तु निर्दय काले कुटिल कराल ने संयोग पहुँचने पर कब किसे छुटकारा दिया है ।

3
विश्वास

प्रतापनारायण मिश्र

यूरोप की विद्या सभ्यता और सिद्धान्तों को जन्म लिए अभी बहुत दिन नहीं हुए तथा आज भी इन बातों का कोई अंग पूर्णता तक नहीं पहुँच चुका। इससे जो लोग केवल उन्हीं का आश्रय ले बैठते हैं, भारतीय फिलासफी की ओर ध्यान नहीं देते, वे बहुधा भूल ही में पड़े रह जाते हैं। इस बात का प्रमाण जिधर देखिए उधर मिल सकता है। नित्य के व्यवहारों में, स्थान, भोजन, वस्त्र धारणादि एवं स्वास्थ्य-रक्षार्थ औषध इत्यादि छोटे-छोटे विषयों तक में यदि आर्य रीति का यथोचित अवलम्बन कर देखिए तो विदित हो जायगा कि पश्चिमी बातों की अपेक्षा कितने स्वल्प व्यय में, कितना अधिक और दृढ़ स्थायी गुण देखने में आता है कि यदि एतद्देशीय बातों से स्वाभाविकीय घृणा हो अथवा अभ्यास ने जाति स्वभाव के अंश तक पहुँच के एवं मन को पूर्ण रूप से सात समुद्र पार के रंग ढंग का बना डाला हो तो बात ही न्यारी है नहीं तो भारत के जलवायु के साथ जितनी स्वाभाविकीय अनुकूलता हमारे ऋषियों के बतलाए हुए सांसारिक अथच परमार्थिक नियमों को है उतनी विदेशीय नियमों की कभी नहीं हो सकती। इस मूल पर हमारी सी तबीयत वालों ने दृढ़ निश्चय कर लिया है, और यदि कोई इस निश्चय के विरुद्ध अपनी विज्ञता सिद्ध करना चाहे तो भली भाँति पुष्ट प्रमाणों से प्रमाणित कर सकते हैं कि हमारे लोक परलोक सम्बन्धी सुख सुविधा सौभाग्य केवल प्राचीन लोगों के द्वारा कथित रीति नीति पर निर्भर हैं। उन्हीं का अनुसरण करके हम अपना प्रकृत मंगल साधन कर सकते हैं और जिस विषय के जितने अंश में उनका विरोध अथवा उपेक्षा करेंगे उतनी ही वास्तविक हानि होगी! इसमें भी जो बातें आत्मा से सम्बन्ध रखती हैं तथा धर्म, प्रेम, ज्ञान, वैराग्य, ध्यान, धारणा इत्यादि उनके विषयों में तो हम सच्चे और उचित अहंकार के साथ कहेंगे कि दूसरों को उनका तत्त्व समझना ही कठिन है, अनुभव की तो बात ही जाने दीजिए, यदि ऐसा न होता तो आजकल का शिक्षित

समुदाय विश्वास ऐसे दिव्य गुण से कदापि वंचित न रहता। विचार कर देखिए तो ऐहिक और पारलौकिक मनोरथों की सिद्धि विशेषतया इसी दैवीय शक्ति के अधीन है जिसे विश्वास कहते हैं। पर इस काल के विद्याभिमानी लोगों को इसकी शिक्षा नहीं प्राप्त हुई। विश्वास क्या है, किसमें क्योंकर करना चाहिए और उसके करने से क्या होता है, यह बात कुछ हमारे ही पूर्व पुरुष समझ समझा सकते थे और जिन लोगों के हृदय से इसका भाव पछाही हवा पूर्णरूपेण उड़ा नहीं ले गई, देश काल की दशा के अनुसार जिनकी मनोवृत्ति में अद्यापि थोड़ा बहुत आर्यत्व बना हुआ है, वे इसके अकथनीय स्वादु से नितान्त अनभिज्ञ नहीं हैं। किन्तु जिनके मन, वचन और कर्म लड़कपन ही से अंग्रेजी रंग-ढंग का अभ्यास करते रहे हैं और होते होते आज उस अभ्यास ने जाति स्वभाव का रूप धारण कर लिया है वे विश्वास को यदि जानते भी हैं तो इतना ही मात्र जानते हैं कि पुराने असभ्य अथच अशिक्षित लोगों में जहाँ और अनेक पागलपन की तरंगें थीं, वहाँ उन्हीं के अन्तर्गत एक यह भी थी। पर ऐसा समझना हमारे बाबू साहब बहादुर की निरी नासमझी है, नहीं तो विश्वास वास्तव में वह गुण है कि यदि हम यथोचित रीति से उसे काम में लावें तो कहीं कभी कुछ भी हमारे लिए असाध्य न रह जाय। महात्मा मसीह ने अपने शिष्यों को एक बार उपदेश दिया था कि यदि तुम में से किसी को अणुमात्र भी विश्वास हो और वह (विश्वासी) चाहे कि पर्वत इस ओर से उस ओर फिर आय तो फिर जायगा। इसी मूल पर एक दिन एक पादरी साहब से एक मौलवी साहब ने प्रश्न किया कि आप को खुदा और हजरत, ईसा और इंजील पर एतिकाद है या नहीं। अगर है तो इंजील की तहरीर के बमूजिब मिहरबानी कर के इस दरख्त (सामने वाले वृक्ष) को हटा दीजिए नहीं तो हम समझेंगे कि आपको अपने मजहब पर एतिकाद जर्रा भर भी नहीं है, यों ही दूसरों को नसीहत करते फिरते हो। इसके उत्तर में पादरी साहब ने उस समय यह कहकर पीछा छुड़ाया कि हम को विश्वास बेशक है, और बाइबिल में जो कुछ लिखा है वह भी सच है पर वह ताकत सिर्फ उन्हीं लोगों के लिए थी जो हजरत ईसा के वक्त में जिन्दा थे। हमारी समझ में पादरी साहब का यह कथन केवल उस समय का झगड़ा टरका देने के लिए था, नहीं तो ईश्वरीय सामर्थ्य में कभी निर्बलता नहीं हो सकती। ईश्वर जो ईसा के समय में था वही आज भी बना हुआ है। वह अपने विश्वासियों की मनःकामना पूर्ण करने के लिए सदा-सर्वथा सब ठौर प्रस्तुत रहता है। अतः उचित एवं सत्य उत्तर यही था कि महात्मा मसीह ने जो कुछ कहा वह बेशक सच है पर ऐसा अच्छा और दृढ़ विश्वासी होना हर एक का काम नहीं है। हम ईश्वर के कमजोर और दुनियादार बन्दे हैं। हम में पर्वत हटाने लायक विश्वास कहाँ? पाठक महाशय! इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। यदि हमारे कहने से निश्चय न आवे तो कुछ दिन स्वयं अभ्यास करके परीक्षा ले लीजिए तो विश्वास हो जायगा कि विश्वास में बड़ी भारी शक्ति है। विश्वासी के लिए पर्वत का हटा देना तो एक छोटी सी खेलुल्ली है। वह यदि

चाहे तो पहाड़ क्या यावज्जगत बरंच जगतकर्ता को स्वेच्छानुसार संचालित कर सकता है। पर होना चाहिए विश्वासी ! सच्चे विश्वास से पूर्ण विश्वासी ! हाँ, यदि किसी कपटी एवं स्वार्थान्ध व्यक्ति ने आपके साथ विश्वासघात किया हो अथवा अपने किसी पुरुष को कुछ का कुछ समझने के कारण धोखा खाया हो तो कह सकते हैं कि विश्वास कोई चीज नहीं है व उसके करने से कुछ नहीं होता। पर निश्चय रखिए कि ऐसा अवसर पड़ जाने में विश्वास का दोष नहीं है। वह दोष उस विश्वासघाती नराधम का है अथवा आपकी बुद्धि का है। क्योंकि संसार में जैसे सचमुच के सज्जन बहुत थोड़े हैं वैसे ही शुद्ध दुर्जन भी बहुत नहीं हैं। और हमारी तुम्हारी बुद्धि जैसे सब बातों का ठीक-ठीक भेद नहीं पा जाती वैसे ही सदा सब ठौर धोखा भी नहीं खाया करती। इस सिद्धान्त के अनुसार जीवनकाल में दो चार बार धोखा खा जाना या धोखा दे देना असम्भव नहीं है। किन्तु इसमें यह सिद्धान्त कभी न निकाल लेना चाहिए कि जिन बातों को हमारे लक्षावधि महापुरुषों ने तथा विदेशीय महात्माओं ने बारम्बार अच्छा कहा है वे वस्तुतः अच्छी नहीं हैं। विश्वास की महिमा वेदशास्त्र, पुराण, बाइबिल, कुरान जहाँ देखिए वहाँ मिलेगी। फिर कोई क्योंकर सिद्ध कर सकता है कि वह ग्रहणीय गुण नहीं है ? यदि दैवयोग से आपने कभी किसी ऐसे ही भारी प्रवचन के द्वारा कष्ट वा हानि सही हो कि हमारे कथन का विश्वास ही करना न चाहते हों तो भी इतना समझ लीजिए कि संसार में किसी पुरुष वा पदार्थ की गति सदा निश्चित रूप में नहीं रही। कभी-कभी बहुत सोचे समझे विषयों तथा भली भाँति जाने-बूझे लोगों से भी धोखा खाने में आ जाता है। अतः दुनिया और दुनियादारों पर विश्वास करते हुए जी हिचकिचावै तो आश्चर्य नहीं है। किन्तु ऐसी दशा में भी विश्वास के स्वादु से वंचित न रह के ईश्वर पर विश्वास जमाने का अभ्यास करना उचित है। क्योंकि उसकी किसी बात में किसी आस्तिक के मतानुसार कभी गड़बड़ नहीं पड़ता। यहाँ हम यह कहना नहीं चाहते कि उसे क्या समझकर किस रीति से विश्वास कर्त्तव्य है। क्योंकि हमारे सिद्धान्त में उस अनन्त की सभी बातें अनन्त हैं और सर्वथा स्वतन्त्र तथा सर्वशक्तिमान, सर्व-व्यापी आदि नारों ही से सिद्ध है कि सभी रीति से, सभी ठौर, सभी काल में हमें उसकी प्राप्ति हमारी ही मनोगति के अनुसार हो सकती है। विशेषतः वह स्वयं विश्वासमय एवं केवल विश्वास ही का विषय है। अकस्मात् विश्वास करने से हम उसे चौराहे की ईंट में भी प्रत्यक्ष रूप से पा सकते हैं और यों खाली खाली जन्म भर अष्टांग योग के द्वारा भी सपने में भी झूठमूठ भी उसकी छाँह देख पड़ना असम्भव है। सिद्धान्त यह कि अपनी रुचि के अनुसार सच्चे जी से उसके कोई बन जाइए, उसे अपना जो जी चाहे वह सचमुच और दृढ़ता के साथ बना लीजिए तो स्पष्ट देख लीजिएगा कि विश्वास में कैसा गुण, कैसी शक्ति, कैसा आनन्द है कि जी ही जानता है। यह बात विश्वासी मात्र प्रायः देखते ही रहते हैं कि जिन अवसरों पर बुद्धि काम नहीं करती, बल नष्ट-प्रायः हो जाता है, सहायक मात्र

अपनी-अपनी ओर खिंच रहते हैं पर आपदा कराल रूप से आक्रमण करती है उस समय केवल विश्वास एक अनिर्वचनीय रूप धारण करके वह युक्ति बतलाता है, वह शक्ति उत्पादन करता है वह साहाय्य प्रदान करता है कि इहकालिक शुष्कविज्ञानी समझ ही नहीं सकते, दूसरों को किन शब्दों में समझावेंगे ? किन्तु जिसे थोड़ा-सा भी अनुभव है वह जानता ही नहीं वरंच प्रत्यक्ष देखता है। फिर भला ऐसी जादू की सी शक्ति को बिना जाने झूठ वा तुच्छ समझना अज्ञान नहीं तो क्या है ?

जिस शक्ति के द्वारा ऐसी-ऐसी लीला प्रायः नित्य ही देखसे में आया करती है, देखने वाले देखते हैं और जो देखना चाहें वह देख सकते हैं कि जब सब ओर से नितान्त निराशता हो जाती है तब विश्वास देव केवल आशा ही नहीं प्रत्युत आशा से कहीं अधिक सहायता दान करते हैं। उन दैवी शक्ति की उपेक्षा करना कहाँ की विद्वत्ता है। इतनी महत्सामर्थ्य होने पर, जिसका जीवित सम्बन्ध लाभ करना बहुत कठिन नहीं है, केवल मन को स्थिर और स्वच्छ तथा धैर्यवान बनाने का अभ्यास करना पड़ता है, फिर साफल्य में संशय नहीं रहता। ऐसे दिव्य गुण विशिष्ट विश्वास से बंचित रहना कौन सी बुद्धिमानी है ? मन यदि सच्चाई के साथ मंगलमय परमात्मा का विश्वासी बनाया जाय तो विश्व भर में कहीं कोई पुरुष व पदार्थ अनिष्टकारक अथवा अविश्वासप्रसारक रह ही नहीं सकता। हाँ, यदि आप ईश्वर को न मानते हों तो केवल उन लोगों का विश्वास मत कीजिए जिन्होंने कभी आपके साथ वा आपके आत्मीयों के साथ कपट का व्यवहार किया हो वा कर उठने का दृढ़ सन्देह उपजाते हों। किन्तु यह प्रण आप नहीं कर सकते कि कभी किसी का विश्वास करेंगे ही नहीं। यदि हो तो संसार का चरखा एक दिन तो चली न सके ! क्या त्रिकाल और त्रिलोक में ऐसा कोई भी प्राणी हो सकता है जिसका सचमुच कोई भी विश्वासपात्र वा विश्वासी न हो ? यदि हठपूर्वक ऐसा मान लीजिए वा बन जाइए तो भी अपने अस्तित्व ही पर सच्चा और अचल विश्वास करके विश्वास की महिमा प्रत्यक्ष देख सकते हैं और उस दशा में यह कहने में भी न रुकेंगे कि विश्वास में बड़ी शक्ति है, बड़ा आनन्द है, बड़ा आश्चर्य गुण है। पर कहने से कुछ नहीं होता। जो विद्या पराक्रम पर तथा अपने बन्धु बांधवादि पर, अपने कर्ता, भर्ता, संहर्ता पर विश्वास करने का अभ्यास डालिए तो थोड़े दिन में दृष्टिगोचर हो जायगा कि कैसे-कैसे बड़े विघ्न सहज में नाश होते हैं और कैसे कठिन काम बात-बात में बनते हैं। यदि दैवात् कोई त्रुटि भी रह गई तो उसकी पूर्ति में सन्देह रहना सम्भव नहीं है। क्योंकि विश्वास जब विश्वनाथ विश्वम्भर तक को सहज में मिला सकता है तब विश्व की आशा पूर्ण करना कौन बड़ी बात है। क्या ही उत्तम होता यदि समस्त भारतसन्तान विश्वास का आश्रय करना सीखते और परस्पर एक-दूसरे के विश्वासी तथा विश्वासभाजन बन के अपने देश एवं अपनी जाति का वही गौरव फिर संसार भर को दिखला देते जो प्राचीन काल में पूर्ण रूप से विराजमान था अथच आज भी जिसके स्मरण मात्र से हृदय को सच्चा अहंकार उत्पन्न होता है।

4

हिन्दी-भाषा की भूमिका

बालमुकुन्द गुप्त

वर्तमान हिन्दी-भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है। वहीं ब्रज-भाषा से वह उत्पन्न हुई और वहीं उसका नाम हिन्दी रखा गया

आरम्भ में उसका नाम रेख्ता पड़ा था। बहुत दिनों यही नाम रहा। पीछे हिन्दी कहलाई। कुछ और पीछे इसका नाम उर्दू हुआ। अब फारसी वेष में अपना उर्दू नाम ज्यों का त्यों बना हुआ रखकर देवनागरी वस्त्रों में हिन्दी-भाषा कहलाती है।

हिन्दी के जन्म-समय उसकी माता ब्रज-भाषा कहलाती थी। क्योंकि वही उस समय उत्तर-भारत की देश-भाषा थी। पर बेटी का प्रताप शीघ्र ही इतना बढ़ा कि माता के नाम के साथ ब्रज शब्द जोड़ने की आवश्यकता पड़ी। क्योंकि कुछ बड़ी होकर बेटी भारतवर्ष की प्रधान भाषा बन गई और माता केवल एक प्रान्त की भाषा रह गई। अब माता ब्रज-भाषा और पुत्री हिन्दी-भाषा कहलाती है।

यद्यपि हिन्दी की नींव बहुत दिनों से पड़ गई थी, पर इसका जन्मकाल शाहजहाँ के समय से माना जाता है। मुगल सम्राट् शाहजहाँ के बसाये शाहजहानाबाद के बाजार में इसका जन्म हुआ, कुछ दिनों तक वह निरी बाजारी भाषा रही ! बाजार में जन्म ग्रहण करने से ही इसका नाम उर्दू हुआ। उर्दू तुर्की भाषा का शब्द है। तुर्की में उर्दू, लश्कर या छावनी के बाजार को कहते हैं। शाहजहानी लश्कर के बाजार में उत्पन्न होने के कारण जन्मस्थान के नाम पर उसका नाम उर्दू हुआ।

उसका नाम 'हिन्दी' भी मुसलमानों का रखा हुआ है। हिन्दी फारसी भाषा का शब्द है। उसका अर्थ है, हिन्द से सम्बन्ध रखने वाली अर्थात् हिन्दुस्तान की भाषा। ब्रज-भाषा में फारसी, अरबी, तुर्की आदि भाषाओं के मिलने से हिन्दी की सृष्टि हुई। उक्त तीनों भाषाओं को विजेता मुसलमान अपने देशों से अपने साथ

भारतवर्ष में लाये थे। सैकड़ों साल तक मुसलमान इस देश में फारसी बोलते रहे। फारिस के विजेताओं ही का इस देश में अधिक बल रहा है। अरबी तुर्की बोलने वाले बहुत कम थे। जब इन लोगों की कई पीढ़ियाँ इस देश में बसते हो गईं तो इस देश की भाषा का उन पर प्रभाव हुआ। भारत की भाषा उनकी भाषा में मिलने लगी और उनकी भाषा भारत की भाषा में युक्त होने लगी। जिस समय यह मेल होने लगा था, उसे अब छः सौ वर्ष से अधिक हो गये। आरम्भ में उक्त मेलजोल सामान्य-सा था। धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि फारसी और ब्रज-भाषा दोनों के संयोग से एक तीसरी भाषा उत्पन्न हो गई। उसका नाम हिन्दी या उर्दू जो चाहिये सो समझ लीजिये। फारसी-भाषा के कवियों ने इस नई भाषा को शाहजहानी बाजार में अनाथावस्था में इधर-उधर फिरते देखा। उन्हें इसकी भोली-भाली सूरत बहुत पसन्द आई, वह उसे अपने घर ले जाकर पालने लगे। उन्होंने ही उसका नामकरण किया और उसे रेख़्ता कहकर पुकारने लगे। औरंगजेब के समय में उक्त भाषा में कविता होने लगी। मुहम्मदशाह के समय में उन्नति हुई और शाहआलम सानी के समय में यहाँ तक उन्नति हुई कि बहुत अच्छे-अच्छे कवियों के सिवा स्वयं बादशाह उक्त भाषा में कविता करने लगे और एक नामी कवि कहलाये। कितने ही हिन्दू कवि भी इस भाषा में कविता करने लगे। साधु महात्माओं के कुटीर तक भी इसका प्रचार होने लगा, वह अपने भगवद्भक्ति के पद इस भाषा में रचने लगे।

मुसलमामी अमलदारी में इस भाषा में केवल फारसी कविता के ढंग की कविता ही होती रही। गद्य की उस समय तक कुछ जरूरत न पड़ी। जब अँग्रेजों के पाँव इस देश में जम गये और मुसलमानी राज्य का चिराग ठण्डा होने लगा, तब इस भाषा में गद्य की नींव पड़ी। गद्य की पहली पोथी सन् 1798 ई० में लिखी गई। सन् 1802 ई० में जब दिल्ली में 'बागोबहार' नाम की पोथी तैयार हुई तो गद्य की चर्चा कुछ बढ़ी। यहाँ तक कि हिन्दुओं का भी इधर ध्यान हुआ। कविवर लल्लूलालजी आगरा निवासी ने अगले ही वर्ष सन् 1803 ई० में प्रेमसागर लिखा। मुसलमान लोग अपनी पोथियाँ फारसी अक्षरों में लिखते थे, लल्लूलालजी ने देवनागरी अक्षरों में अपनी पोथी लिखी पर दुःख की बात है। लल्लूजी के पीछे बहुत काल तक ऐसे लोग उत्पन्न न हुए जो उनके दिखाये मार्ग पर चलते और उनके किये हुए काम की उन्नति करते। इसी से उनका काम जहाँ का तहाँ रह गया। देवनागरी अक्षरों में प्रेमसागर के ढंग की नई-नई रचनाएँ करने वाले लोग साठ साल तक फिर दिखाई न दिये। अक्षरों वाले उन्नति करते गये। गद्य में उन्होंने और भी कितनी ही पोथियाँ लिखीं। पीछे सन् 1835 ई० उनके सौभाग्य से सरकारी दफ्तरों में फारसी अक्षरों के साथ हिन्दी जारी हुई। इससे नागरी अक्षरों को बड़ा धक्का पहुँचा। उनका प्रचार बहुत कम हो चला। जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे, वह फारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए। फल यह हुआ कि हिन्दीभाषा न रह कर उर्दू बन गई। हिन्दी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में

लिखी जाती थी। न वह नियमपूर्वक सीखी जाती थी और न उसके लिखने का कोई अच्छा ढंग था। कविता करने वाले ब्रजभाषा में कविता करते हुए पुरानी चाल पर जाते थे, जो अब भी एकदम बन्द नहीं हो गई है। गद्य या तो आपस की चिट्ठी-पत्रियों में बड़े गँवारी ढंग से जारी था या कोई एक-आधा गुम नाम बेढंगी पोथी में दिखाई देता था।

पचास साल से अधिक हिन्दी की यही दशा रही। उसका नाम-निशान मिटने का समय आ गया। उसके साथ ही साथ देवनागरी अक्षरों का प्रचार एकदम उठ गया था। देवनागरी अक्षरों में एक मोटी चिट्ठी भी शुद्ध लिखना लोग भूल चले थे। उर्दू का जोर बहुत बढ़ गया था। अचानक समय ने पलटा खाया, कुछ फारसी-अँग्रेजी पढ़े हुए हिन्दू सज्जनों के हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि फारसी अक्षरों का चाहे कितना ही प्रचार हो जाय और सरकारी आफिसों में भी उनका कैसा ही आदर बढ़ जाय, सर्वसाधारण में फैलने के योग्य देवनागरी अक्षर ही हैं। स्वर्गीय राजा शिवप्रसाद की चेष्टा से काशी से बनारस अखबार निकला[1] उसकी भाषा उर्दू अक्षर देवनागरी थे। राजा शिवप्रसादजी द्वारा देवनागरी अक्षरों का और भी बहुत कुछ प्रचार हुआ। पीछे काशीवालों ने हिन्दी भाषा के सुधार की ओर भी ध्यान दिया और 'सुधाकर पत्र' निकाला। पर वह चेष्टा भी विफल हुई। अन्त को आगरा-निवासी स्वर्गीय राजा लक्ष्मणसिंहजी ने शकुन्तला का हिन्दी अनुवाद किया और अच्छी हिन्दी लिखने वालों को फिर से एक मार्ग दिखाया। यद्यपि उसका शुद्ध अनुवाद 25 साल पीछे सन् 1888 ई०,में प्रकाशित हुआ जब कि हिन्दी की चर्चा बहुत कुछ फैल चुकी थी—तथापि राजा शिवप्रसाद के गुटके में मिल जाने से उसके पहले अनुवाद का बहुत प्रचार हो चुका था। सन् 1778 ई० में उक्त राजा साहब ने रघुवंश का गद्य हिन्दी में अनुवाद किया। उसकी भूमिका में वह लिखते हैं—

"हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी है। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी फारसी के। परन्तु कुछ आवश्यक नहीं है कि अरबी फारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं, जिससे अरबी फारसी के शब्द भरे हों। इस उल्था में यह भी नियम रक्खा गया है कि कोई पद अरबी फारसी का न आवे।"

---

1. इसके पहले कलकत्ते से 30 मई मन् 1826 को **'उदन्तमार्त्तण्ड'** नामक साप्ताहिक हिन्दी पत्र प्रकाशित हो चुका था। उसके सम्पादक और प्रकाशक कानपुर निवासी पं० युगलकिशोर मिश्र थे। वे यहाँ सदर दीवानी अदालत में 'प्रोसिडिंग्स रीडर' थे।—(**'बाँगला सामयिक पत्र'**—श्रीब्रजेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय लिखित, पृ० 73)

—सम्पादक।

राजा साहब उर्दू फारसी भलीभाँति जानते थे, तिसपर भी हिन्दी और उर्दू को केवल इसलिये दो न्यारी न्यारी बोली बताते थे कि एक में संस्कृत के शब्द अधिक होते हैं और दूसरी में फारसी अरबी के शब्द। अस्तु, इस कथन से यह स्पष्ट है कि हिन्दी और उर्दू में केवल संस्कृत और फारसी आदि के शब्दों के लिये भेद है और सब प्रकार दोनों एक हैं। साथ ही यह भी विदित होता है कि उर्दू से उस समय कुछ शिक्षित हिन्दू घबराने लगे थे कि फारसी, अरबी शब्दों के बहुत मिल जाने से हिन्दी हिन्दी नहीं रही कुछ और ही हो गई, हिन्दुओं के काम वह नहीं आ सकती। ईश्वर की इच्छा थी कि हिन्दी की रक्षा हो, इसी से यह विचार कुछ शिक्षित हिन्दुओं के हृदय में उसने अंकुरित किया। गिरती हुई हिन्दी को उठाने के लिए उसकी प्रेरणा से स्वर्गीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ।

हरिश्चन्द्र ने हिन्दी को फिर से प्राण-दान किया। उन्होंने हिन्दी में अच्छे-अच्छे समाचार पत्र, मासिक पत्र आदि निकाले और उत्तम नाटकों और पुस्तकों से उसका गौरव बढ़ाना आरम्भ किया। यद्यपि उन्होंने बहुत थोड़ी आयु पाई और सतरह-अठारह वर्ष से अधिक हिन्दी की सेवा न कर सके, तथापि इस अल्प काल में ही हिन्दी-संसार में युगान्तर उपस्थित कर दिया। उनके सामने ही कितने ही हिन्दी के अच्छे लेखक हो गये थे। कितने ही समाचार पत्र निकलने लगे थे। जिस हिन्दी की ओर पहले लोग आँख उठाकर न देखते थे वह सबकी आँखों का तारा हो चली थी। हरिश्चन्द्र ने हिन्दी के लिए क्या किया, यह बात आगे कही जावेगी। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि आज उन्हीं की चलाई हिन्दी सब जगह फैल रही है। उन्हीं की हिन्दी में आजकल सामयिक पत्र निकलते हैं और पुस्तकें बनती हैं। दिन पर दिन लोग शुद्ध हिन्दी लिखना और शुद्ध देवनागरी लिपि में पत्र-व्यवहार करना सीखते जाते हैं। यद्यपि बंगला, मराठी आदि भारतवर्ष की अन्य कई भाषाओं से हिन्दी अभी पीछे है, तथापि समस्त भारतवर्ष में यह विचार फैलता जाता है कि इस देश की प्रधान भाषा हिन्दी ही है और वही यहाँ की राष्ट्र-भाषा होने के योग्य है। साथ-साथ यह भी मानने जाते हैं कि सारे भारतवर्ष में देवनागरी अक्षरों का प्रचार होना उचित है। हरिश्चन्द्र के प्रसाद से यह सब हुआ और आज हिन्दी की चर्चा करने का अवसर मिला।

इस समय हिन्दी के दो रूप हैं। एक उर्दू दूसरा हिन्दी। दोनों में केवल शब्दों ही का नहीं लिपि-भेद बड़ा भारी पड़ा हुआ है। यदि यह भेद न होता तो दोनों रूप मिलकर एक हो जाता। यदि आदि से फारसी लिपि के स्थान में देवनागरी लिपि रहती तो यह भेद ही न होता। अब भी लिपि एक होने से भेद मिट सकता है। पर जल्द ऐसा होने की आशा कम है। अभी दोनों रूप कुछ काल तक अलग-अलग अपनी चमक-दमक दिखाने की चेष्टा करेंगे। आगे समय जो करावेगा, वही होगा। बड़ी कठिनाई तो यह है कि दोनों एक-दूसरे को न पहचानते हैं न पहचानने की

चेष्टा करते हैं। इससे बड़ा भारी अन्तर हो जाता है ! जो लोग उर्दू के अच्छे कवि और ज्ञाता हैं; वह हिन्दी की ओर ध्यान देना कुछ आवश्यक नहीं समझते। इसी से देवनागरी अक्षर भी नहीं सीखते और भारतवर्ष के साहित्य से निरे अनभिज्ञ हैं। अरब और फारिस के साहित्य की ओर खिंचते हैं। साथ-साथ भारतवर्ष के साहित्य से घृणा करते और जी चुराते हैं। उधर हिन्दी के प्रेमी भी उर्दू की ओर कम दृष्टि रखते हैं और उर्दू वालों को अपनी ओर की बातें ठीक-ठीक समझाने को चेष्टा नहीं करते। यदि दोनों ओर से चेष्टा हो तो इस भाषा की बहुत कुछ उन्नति हो सकती है। मैं इस पुस्तक द्वारा दोनों ओर के लोगों को एक-दूसरे की बातें ठीक-ठीक समझा देने की चेष्टा करूँगा। इसमें मेरा अधिक श्रम हिन्दी वालों के लिए होगा।

5
कवि और कविता

महावीरप्रसाद द्विवेदी

यह बात सिद्ध समझी गई है कि अच्छी कविता अभ्यास से नहीं आती । जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है वही कविता कर सकता है । देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े-बड़े विद्वान् अच्छी कविता नहीं कर सकते उसी पर अपढ़ और कम उम्र के लड़के कभी-कभी अच्छी कविता लिख देते हैं । इससे स्पष्ट है कि किसी-किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है । जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी । वह निरर्थक नहीं हो सकती । उससे समाज को कुछ न कुछ लाभ अवश्य पहुँचता है । अतएव यदि कोई यह समझता हो कि कविता करना व्यर्थ है तो यह उसकी भूल है । हाँ, कविता के लक्षणों से च्युत, तुले हुए वर्णों या मात्राओं की पद्य नामक पंक्तियाँ व्यर्थ हो सकती हैं । आजकल पद्य-मालाओं का प्राचुर्य्य है । इससे यदि कविता को कोई व्यर्थ समझे तो आश्चर्य नहीं होगा ।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो सम्भव नहीं कि उसे सुनकर सुनने वाले पर कुछ असर न हो । कविता से दुनिया में आज तक बहुत बड़े-बड़े काम हुए हैं । इस बात के प्रमाण मौजूद हैं । अच्छी कविता सुनकर कविता-गत रस के अनुसार, दुःख, शोक, क्रोध, करुणा और जोश आदि भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते । जैसा भाव मन में पैदा होता है, कार्य्य के रूप में फल भी वैसा ही होता है । हम लोगों में, पुराने जमाने में, भाट, चारण आदि अपनी-अपनी कविता ही की बदौलत वीरता का संचार कर देते थे । पुराणादि में कारुणिक प्रसंगों का वर्णन सुनने और उत्तररामचरित आदि दृश्य काव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है वह क्या है? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है ।

संसार में जो बात जैसी देख पड़े कवि को उसे वैसी ही वर्णन करना चाहिए ।

उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का ओश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका असर लोगों पर पूरा-पूरा पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति विशेष के गुण-दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि वह बेरोक-टोक प्रकट कर दे तो उसकी कविता हृदयद्रावक हुए बिना न रहे। परन्तु परतन्त्रता या पुरस्कार प्राप्ति या और किसी कारण से, सच बात कहने में किसी तरह की रुकावट पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो, कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभावहीन हो जाती है। सामाजिक और राजनीतिक विषयों में कटु होने के कारण, सच कहना भी जहाँ मना है, वहाँ इन विषयों पर कविता करने वाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिए कोई रोक न होनी चाहिए अथवा जिस विषय पर रोक हो उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब, वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन से उसे संतोष करना उचित है।

खुशामद के जमाने में कविता की बुरी हालत होती है। जो कवि राजों, नव्वाबों या बादशाहों के आश्रय में रहते हैं, अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनको खुशामद करनी पड़ती है। वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं कि उनकी उक्तियाँ असलियत से बहुत दूर जा पड़ती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुँचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है। आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलंकार-शास्त्र के आचार्यों ने अतिशयोक्ति एक अलंकार जरूर माना है परन्तु अभावोक्तियाँ भी क्या कोई अलंकार है, किसी कवि की बेसिर-पैर की बातें सुनकर किस समझदार आदमी को आनन्द-प्राप्ति हो सकती है ? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं वह समाज कभी प्रशंसनीय नहीं समझा जाता।

कारणवश अमीरों की झूठी प्रशंसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कवि समुदाय के आमरण लगे रहने से कविता की सीमा कटछँट कर बहुत थोड़ी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि आशिकाना (शृंगारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइए, किसी मसनवी को उठाइए, आशिक-माशूकों के रंगीन रहस्यों से आप उसे आरम्भ से अन्त तक रंगी हुई पाइएगा। इश्क भी यदि सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है। पर क्या कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहने वालों का सारा रोना, कराहना,

ठंडी साँसें लेना, जीते ही अपनी कब्रों पर चिराग़ जलाना सब सच है ? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा सा भी अंश सच है ? फिर, इस तरह की कविता सैंकड़ों वर्षों से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके, जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या-क्या लिख डाला है। इस दशा में नये कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं ? वही तुक, वही छन्द, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक। इस पर भी लोग पुरानी लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे-सोरठे लिखने से बाज नहीं आते। नख-शिख, नायिक-भेद, अलंकारशास्त्र, पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ बनावटी बातों से देवी देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचाते। फल इसका यह हुआ है कि कविता की असलियत काफ़ूर हो गई है। उसे सुनकर सुनने वाले के चित्त पर कुछ भी असर नहीं होता उलटा कभी मन में घृणा का उद्रेक अवश्य उत्पन्न हो जाता है।

साहित्य के बिगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़ जाती है तब उसका असर सारे ग्रन्थकारों पर पड़ता है। यही क्यों, सर्वसाधारण की बोलचाल तक में कविता के दोष आ जाते हैं। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोलचाल के सम्बन्ध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं, कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहाविरों को कोशकर अपने कोशों में रखते हैं, मतलब यह है कि भाषा और बोलचाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों ही के हाथ में रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं, उस भाषा की उन्नति तो होती नहीं, उलटी अवनति होती जाती है।

विता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नये तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निन्दा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं, यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं, यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो छन्दोदिवाकर में दिये लक्षणों में च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि जिसे अब तक कविता कहते आते हैं वही उनकी समझ में कविता है और सब कोरी काँव काँव। इसी तरह की नुकताचीनी से तंग आकर अंगरेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को सम्बोधन करके उसकी सान्त्वना की है वह कहता है—"कविते ! यह बेकदरी का जमाना है। लोगों के चित्त तेरी तरफ खिचने तो दूर रहे, उल्टी सब कहीं तेरी निन्दा होती है। तेरी बदौलत सभा-समाजों और जलसों में मुझे लज्जित होना पड़ता है। पर जब मैं अकेला होता हूँ तब मुझ पर मैं घमण्ड करता हूँ। याद रख, तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं वे निर्धन होकर भी आनन्द से रह सकते हैं। पर अप्राकृतिक बल पर कियाँ गया गर्व कुछ दिन बाद जरूर चूर्ण हो जाता है।"

गोल्डस्मिथ ने इस विषय में बहुत कुछ कहा है, पर हमने उसके कथन का सारांश बहुत ही थोड़े शब्दों में दे दिया है। इससे प्रकट है कि नई कविता-प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करने वाले कवि-प्रकाण्डों के कहने की कुछ भी परवाह न करके अपने स्वीकृत पथ से जरा भी इधर-उधर होना उचित नहीं। कई बातों से घबराना और उनके पक्षपातियों की निन्दा करना मनुष्य का स्वभाव ही सा हो गया है। अतएव नई भाषा और नई कविता पर यदि कोई नुकताचीनी करें तो आश्चर्य नहीं।

आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रक्खा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो अँगरेजी की पोयटरी (Poetry) और वर्स (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं। वह नपी-तुली शब्द-स्थापना-मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य्य नहीं। संस्कृत का प्रायः सारा पद्यसमूह बिना तुकबन्दी का है और संस्कृत से बढ़कर कविता शायद ही किसी और भाषा में हो। अरब में भी सैकड़ों अच्छे-अच्छे कवि हो गये हैं। वहाँ भी शुरू-शुरू में तुकबन्दी का बिलकुल ख्याल न था। अँगरेजी में भी अनुप्रास-हीन बेतुकी कविता होती है। हाँ, एक बात जरूर है कि वज़न और क़ाफ़िए से कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है। पर कविता के लिए ये बातें ऐसी ही हैं जैसे कि शरीर के लिए वस्त्राभरण। यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरंजकता और प्रभावोत्पादकता उसमें न हो तो इसका होना निष्फल समझना चाहिए। पद्य के काफिए वगैरह की जरूरत है कविता के लिए नहीं। कविता के लिए तो ये बातें एक प्रकार से उलटा हानिकारक हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कवियों के विचार-स्वातन्त्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनके जकड़ जाने से कवियों को अपने स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनता-पूर्वक प्रकट करे। पर काफिये और वजन उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावों को स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं प्रकट होने देते। काफिए और वजन को पहले ढूँढ़कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका यह मतलब हुआ कि प्रधान बात अप्रधानता को प्राप्त हो जाती है और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। इससे कवि अपने भाव स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं प्रकट कर सकता। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर कम हो जाता है। कभी-कभी तो यह बिल्कुल ही जाता रहता है। अब आप ही कहिए कि जो वजन और काफिया कविता के लक्षण का कोई अंश नहीं उन्हें ही प्रधानता देना भारी भूल है या नहीं।

कवि का सबसे बड़ा गुण नई-नई बातों का सूझना है। उसके लिए कल्पना

की बड़ी जरूरत है। जिसमें जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अधिक अच्छी कविता लिख सकेगा। कविता के लिए उपज चाहिए, नये-नये भावों की उपज जिसके हृदय ही में नहीं वह कभी अच्छी कविता नहीं लिख सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं। इसीलिए संस्कृत वालों ने प्रतिभा को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है। अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती है। इसी की बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है, वर्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को एक अजीव निराले ढंग से बयान करता है, जिसे सुनकर सुनने वाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख, दुख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी-कभी ऐसी अद्भुत बातें कह देते हैं कि जो कवि नहीं है उनकी पहुँच वहाँ तक कभी हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई ओर-छोर नहीं। वह सनन्त है। प्रकृति अद्भुत-अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल में वह अजीब-अजीब कौशल दिखाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ ही नहीं सकते। पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह देख लेता है, उनका वर्णन भी करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षा भी ग्रहण करता है, और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ भी पहुँचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।

कवि-कुल-गुरु कालिदास में विश्व-विख्यात काव्य रघुवंश तथा कविवर विहारीलाल की सतसई से, विषय का, एक-एक प्रत्युदाहरण सुनिए—

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥

—रघुवंश॥

रघु की दिग्विजय यात्रा के उपोद्घात में शरदृतु का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि ईख की छाया में बैठी हुई धान रखाने वाली स्त्रियाँ रघु का यश गाती थीं। शरत्-काल गें जब धान के खेत पकते हैं, तब ईख इतनी-इतनी बड़ी हो जाती है कि उसकी छाया में बैठकर खेत रखा सकें। ईख और धान के खेत भी प्रायः पास ही पास हुआ करते हैं। कवि को ये सब बातें विदित थीं। श्लोक में इस दशा का—इस वास्तविक घटना का—चित्र सा खींच दिया गया है। श्लोक पढ़ते ही वह समाँ आँखों में फिरने लगता है।

महाराजाधिराज विक्रमादित्य के सखा, राजसी ठाठ से रहने वाले कालिदास ने गरीब किसानों की, नगर से दूर, जंगल में सम्बन्ध रखने वाली एक वास्तविक

घटना का कैसा मनोहर चित्र उतारा है। यह उनके प्रकृत-पर्यायलोचक होने का दृढ़ प्रमाण है। दूसरा प्रत्युदाहरण—

सन सूक्यौ बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारि।
हरी-हरी अरहर अजौं धर धर हर हिय नारि॥

—सतसई

पहले सन सूखता है, फिर वन-बाड़ी या कपास के खेत की बहार खतम होती है। पुनः ईख उखड़ने की बारी आती है। और इन सबसे पीछे गेहुँओं के साथ तक, अरहर हरी-भरी खड़ी रहती है।

प्रकृति-पर्य्यालोचना के सिवा कवि को मानव-स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक सी नहीं रहती। अनेक प्रकार के विकार तरंग उसके मन में उठा ही करते हैं। इन विकारों की जाँच, ज्ञान और अनुभव करना सबका काम नहीं। केवल कवि ही इनके अनुभव करने और कविता द्वारा औरों को इनका अनुभव कराने में समर्थ होता है। जिसे कभी पुत्र-शोक नहीं हुआ उसे उस शोक का यृथार्थ ज्ञान होना सम्भव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र-शोकाकुल पिता या माता की आतमा में प्रवेश सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुनने वाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से अभिभूत हो जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वयं उसी पर वह दुःख पड़ रहा है। जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं, वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्द-स्थापना की भी बड़ी जरूरत है। किसी मनो-विकार या दृश्य के वर्णन में ढूँढ़-ढूँढ़ कर ऐसे शब्द रखने चाहिए जो सुनने वाले की आँखों के सामने वर्ण्य-विषय का चित्र सा खींच दे। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दों में न प्रकट किया गया तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता तो कम जरूर हो जाता है। इसीलिए कवि को चुन चुन कर ऐसे शब्द रखने चाहिए, और इस क्रम से रखने चाहिए, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय। उसमें कसर न पड़े। मनोभाव शब्दों ही के द्वारा व्यक्त होता है। अतएव युक्तिसंगत शब्द स्थापना के बिना कवि की कविता तादृश्य हृदयहारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्द स्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिए कि उसके पास काफी शब्द समूह नहीं है, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिए। जो सुकवि हैं उन्हें एक एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है। वे खूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनका भाव प्रकट करने की एक बाल भर भी कमी होती है, उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते। आजकल पद्य-रचना-कर्ता महाशयों को इस बात

का बहुत कम ख्याल रहता है। इसी से उनकी कविता, यदि अच्छे भाव से भरी हुई भी हो तो भी बहुत कम असर पैदा करती है। जो कवि प्रति पंक्ति में, निरर्थक सु, जु और रु का प्रयोग करता है, वह मानों इस बात का खुद ही सार्टिफिकेट दे रहा है कि मेरे अधिकृत शब्द-कोष में शब्दों की कमी है। ऐसे कवियों की कविता कदापि सर्व-सम्मत और प्रभावोत्पादक नहीं हो सकती।

अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुण वर्णन किये हैं। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हो और असलियत से गिरी हुई न हो।

सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ शब्द-समूह ही सादा हो, किन्तु विचार परम्परा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ में न आवे, या देर से समझ में आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो जो उसे समझने में गहरे विचार की जरूरत हो। कविता पढ़ने या सुनने वाले को ऐसी साफ-सुथरी सड़क मिलनी चाहिए जिस पर कंकड़, पत्थर, टीले, खंदक, काँटे और झाड़ियों का नाम न हो। वह खूब साफ और हमवार हो, जिससे उस पर चलने वाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क जरा भी ऊँची नीची होने से बाइसिकल (पैरगाड़ी) के सवार को दचके लगते हैं, उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी भी नाहमवार हुई तो पढ़ने वाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कविता-रूपी सड़क के इधर-उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हों, दोनों तरफ फलों-फूलों से लदे हुए पेड़ हों, जगह-जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों, प्राकृतिक दृश्यों की नई-नई झाँकियाँ आँखों को लुभाती हों। दुनियाँ में आज तक जितने भी अच्छे-अच्छे कवि हुए हैं, उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भाव और अटपटे शब्द प्रयोग करने वाले कवियों की कद्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ हुई भी है तो थोड़े दिनों तक। ऐसे कवि विस्मृति के अन्धकार में ऐसे छिप गये हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एकमात्र सूची-शब्द-झंकार की जिन कवियों की करामात है, उन्हें चाहिए कि वे एकदम ही बोलना बन्द कर दें।

भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो, पेचीदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों। मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो। क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है, उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों जिसे काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहाविरे का भी ख्याल रखना चाहिए। जो मुहाविरा सर्वसम्मत है, उसी का प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी और

उसमें कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई-कोई ऐसे शब्दों को उनके मूल-रूप में लिखना ही सही समझते हैं पर यह उनकी भूल है। जब अन्य भाषा का कोई शब्द किसी और भाषा में आ जाता है, तब वह उसी भाषा का हो जाता है। अतएव उसे उसकी मूल भाषा के रूप में लिखते जाना भाषा विज्ञान के नियमों के खिलाफ है।

असलियत से मतलब नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सच्चाई का ख्याल रखा जाय। यह नहीं कि सच्चाई की कसौटी पर यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बेबुनियाद न हो, उसमें जो उक्ति हो वह मानवी मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हों। स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो। क्योंकि स्वाभाविक अर्थात् नेचुरल (Natural) उक्तियाँ ही सुनने वाले के हृदय पर असर कर सकती हैं, अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिए हुए कवि स्वतन्त्रतापूर्वक जो चाहे कह सकता है, असल बात को एक नये साँचे में ढाल कर कुछ दूर तक इधर-उधर भी उड़ान कर सकता है, पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानों कविता को प्रायः निर्जीव कर डालना है। शब्द और अर्थ दोनों ही के सम्बन्ध में उसे स्वाभाविकता का अनुधावन करना चाहिए। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति का जैसे और जिस क्रम से शब्द प्रयोग करते हैं वैसे ही कवि को भी करना चाहिए। कविता में कोई बात ऐसी न कहनी चाहिए जो दुनिया में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती हैं, अथवा जिन बातों का होना सम्भव है, वही स्वाभाविक है।

जोश से मतलब है कि कवि जो कुछ कहे इस तरह कहे मानों उनके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुँह से निकल गये हैं। उनसे बनावट न जाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कहीं हैं, किन्तु यह मालूम हो कि उसके हृदयगत् भावों ने कविता के रूप में अपने को प्रकट कराने के लिए उसे विवश किया है। जो कवि है, उसमें जोश स्वाभाविक होता है। वर्ण्य वस्तु को देखकर, किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से, वह उस पर कविता करने के लिए विवश सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव चीजों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढंग से करता है कि यदि उन चीजों में बोलने की शक्ति होती तो खुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं।

सादगी, असलियत और जोश यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना

ही क्या है परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक आध गुण की कमी पाई जाती हैं। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। कभी-कभी सादगी और जोश पाये जाते हैं, असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।

अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा। वही कवि सच्चे कवि हैं, जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुंह से सहसा यह उक्ति निकलती है, ऐसे कवि धन्य हैं, और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते हैं वह देश भी धन्य है। ऐसे ही कवियों की कविता चिरकाल तक जीवित रहती है।

6
जीवन में साहित्य का स्थान

प्रेमचन्द

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है। उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं; लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है; इसलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है; इसलिए सुबोध है, सुगम है, और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है या नहीं, हमें मालूम नहीं; लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए कानून हैं, जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवनपर्यन्त आनन्द ही की खोज में लगा रहता है। किसी को वह रत्न द्रव्य में मिलता है, किसी भरे-पूरे परिवार में, किसी को लम्बे-चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में, लेकिन साहित्य का आनन्द इस आनन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है, उसी आनन्द को दर्शाना, वही आनन्द उत्पन्न करना साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द में ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है; पश्चाताप भी हो सकता है; पर अन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखण्ड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गये हैं। प्रश्न होगा, वीभत्स में भी कोई आनन्द है? अगर ऐसा न होता, तो वह रसों में गिना ही क्यों जाता? हाँ, है। वीभत्स में सुन्दर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान का जो वर्णन किया है, वह कितना वीभत्स है। प्रेतों और पिशाचों का अधजले माँस के लोथड़े नोंचना, हड्डियों को चटर-मटर चबाना, वीभत्स की पराकाष्ठा है; लेकिन वह वीभत्स होते हुए भी सुन्दर है; क्योंकि उसकी सृष्टि पीछे आने वाले स्वर्गीय दृश्य के आनन्द को तीव्र करने के

लिए ही हुई है। साहित्य तो हर एक रस में सुन्दर खोजता है—राजा के महल में, रंक की झोंपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गन्दे नालों के अन्दर, ऊषा की लाली में, सावन-भादों की अँधेरी रात में, और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोंपड़ी में जितनी आसानी से सुन्दर, मूर्तिमान दिखाई देता है, महलों में नहीं। महलों में तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ अकृत्रिम रूप में है, वहीं आनन्द है। आनन्द कृत्रिमता और आडम्बर से कोसों भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या सम्बन्ध? अतएव हमारा विचार है कि साहित्य में केवल एक रस है और वह श्रृंगार है। कोई रस साहित्यिक दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है, जो श्रृंगारविहीन और अ-सुन्दर हो। जो रचना केवल वासनाप्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है, लेकिन हम उसे साहित्य उस वक्त कहेंगे, जब उसमें सुन्दर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिए सतत उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों का झेलना, न्याय-मर्यादा की रक्षा करना, ये भाव हैं, जो इस अद्भुत रस की रचना को ही सुन्दर बना देते हैं।

सत्य से आत्मा का सम्बन्ध हीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का सम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध है और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का सम्बन्ध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का सम्बन्ध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का सम्बन्ध विचार से है, प्रयोजन का सम्बन्ध स्वार्थबुद्धि से। आनन्द का सम्बन्ध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक ही दृश्य या घटना या कांड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नजरों से देख सकते हैं। हिम से ढँके हुए पर्वत पर ऊषा का दृश्य दार्शनिक के लिए गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए अनुसन्धान की और साहित्यिक के लिए विह्वलता की! विह्वलता एक प्रकार का आत्मसमर्पण है। हम यहाँ पृथकता का अनुभव नहीं करते। यहाँ ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्री रामचन्द्र शबरी के झूठे बेर क्यों प्रेम से खाते हैं, कृष्ण भगवान विदुर के शाक को क्यों नाना व्यंजनों से रुचिकर समझते हैं; इसीलिए कि उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया है। उनकी आत्मा विशाल है। उसमें समस्त जगत् के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गयी है। जिसकी आत्मा जितनी ही विशाल है, वह उतना ही महापुरुष है। यहाँ तक कि ऐसे महान् पुरुष भी हो गये हैं, जो जड़ जगत् से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके हैं।

आइए देखें, जीवन क्या है? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का जीवन है। मानव जीवन में भी यह सब प्रवृत्तियाँ

होती हैं, क्योंकि वह भी तो पशु है। पर, इनके उपरान्त कुछ और भी होता है। उनमें कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ होती हैं, जो प्रकृति के साथ हमारे मेल में बाधक होती हैं, कुछ ऐसी होती हैं, जो इस मेल में सहायक बन जाती हैं। जिन प्रवृत्तियों में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता है, वह बांछनीय होती हैं, जिनसे सामंजस्य में बाधा उत्पन्न होती है, वे दूषित हैं। अहंकार, क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियाँ हैं। यदि हम इनको बेरोकटोक चलने दें, तो निस्संदेह वह हमें नाश और पतन की ओर ले जायेंगी। इसलिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उन पर संयम रखना है, जिसमें वे अपनी सीमा से बाहर न जा सकें। हम उन पर जितना कठोर संयम रख सकते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किन्तु नटखट लड़कों से डाँट कर कहना—तुम बड़े बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकड़कर उखाड़ लेंगे—अक्सर व्यर्थ ही होता है; बल्कि उस प्रवृत्ति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। जरूरत यह होती है कि बालक में जो सद्वृत्तियाँ हैं उन्हें ऐसा उत्तेजित किया जाय कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से शांत हो जायँ। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्मविकास के लिए संयम की आवश्यकता होती है। साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोल कर सद्वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते, उसी भाँति जैसे दुलार-चुमकार कर बच्चों को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डाँट-फटकार से सम्भव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाजी ले जाता है। यही कारण है, कि हम उपनिषदों और अन्य धर्म-ग्रन्थों को साहित्य की सहायता लेते देखते हैं। हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होंने मानव-जीवन की वे कथाएँ रचीं, जो आज भी हमारे आनन्द की वस्तु हैं। बौद्धों की जातक-कथाएँ, तौरेह, कुरान, एंजील ये सभी मानवी कथाओं के संग्रह-मात्र हैं। उन्हीं कथाओं पर हमारे बड़े-बड़े धर्म स्थिर हैं। वही कथाएँ धर्मों की आत्मा हैं। उन कथाओं को निकाल दीजिए, तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जाएगा। क्या उन धर्म-प्रवर्त्तकों ने अकारण ही मानवी जीवन की कथाओं का आश्रय लिया? नहीं, उन्होंने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना संदेश पहुँचाया जा सकता है। वे स्वयं विशाल हृदय के मनुष्य थे। उन्होंने मानव-जीवन से अपनी आत्मा का मेल कर लिया था। समस्त मानव-जाति से उनके जीवन का सामंजस्य था, फिर वे मानव-चरित्र की उपेक्षा कैसे करते हैं?

आदि काल से मनुष्य के लिए समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख-दुःख, हँसने-रोने का मर्म समझ सकते हैं, उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी

को विद्यार्थी जीवन से, कृषक को कृषक जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं, लेकिन साहित्य जगत् में प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है। हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट् होकर समस्त मानव जाति पर अधिकार पा जाती है। मानव जाति ही नहीं, चर और अचर, जड़ और चेतन सभी उसके अधिकार में आ जाते हैं। उसे मानो विश्व की आत्मा पर साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे; पर आज रंक भी उनके दुःख से उतना ही प्रभावित होता है; जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकड़ी है, जो पशुओं में, ईंट-पत्थरों में, पेड़-पौधों में भी विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव-हृदय का जगत् इस जैसा नहीं है। हम मनुष्य होने के कारण मानव-जगत् के प्राणियों में अपने को अधिक पाते हैं, उसके सुख-दुःख, हर्ष और विषाद से ज्यादा विचलित होते हैं। हम अपने निकटतम बन्धु-बांधवों से अपने को इतना निकट नहीं पाते; इसलिए कि हम उसके एक-एक विचार, एक-एक उद्गार को जानते हैं। उसका मन हमारी नजरों के सामने आइने की तरह खुला हुआ है। जीवन में ऐसे प्राणी हमें कहाँ मिलते हैं, जिनके अन्तःकरण में हम इतनी स्वाधीनता से विचार सकें। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है कि उसके भावों में व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी 'हारमनी' प्राप्त कर ली हो कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हों।

साहित्यकार बहुधा अपने देश काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देशबन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है। 'टाम काका की कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है; पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हम लोग उसे पढ़कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते रहते हैं; पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव-हृदय में तबदीलियाँ नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं, जैसे आदि कवि बाल्मीकि के समय में थे और कदाचित् अनन्त तक रहेंगे। रामायण के समय का समय अब नहीं है; महाभारत का समय भी अतीत हो गया; पर ये ग्रन्थ अभी तक नये हैं। साहित्य ही सच्चा इतिहास है, क्योंकि उनमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है, और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास हैं। इतिहास जीवन के विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है। जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है क्योंकि साहित्य अपने देश-काल का प्रतिबिम्ब होता है।

जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी सन्देह किया जाता है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे हैं, वह अच्छे ही रहेंगे; चाहे वह कुछ भी पढ़े। इस कथन में सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव चरित्र को बदल देना होगा। जो सुन्दर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जायँ; पर असुन्दर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करें; पर यह असम्भव है कि करुणा और दया और प्रेम भक्ति का हमारे दिलों पर असर न हो। नादिरशाह से ज्यादा निर्दयी मनुष्य और कौन हो सकता है—हमारा आशय दिल्ली में कत्लेआम कराने वाले नादिरशाह से है। अगर दिल्ली का कत्लेआम सत्य घटना है, तो नादिरशाह के निर्दय होने में कोई सन्देह नहीं रहता। उस समय आपको मालूम है, किस बात से प्रभावित होकर उसने कत्लेआम बन्द करने का हुक्म दिया था? दिल्ली के बादशाह का वजीर एक रसिक मनुष्य था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध किसी तरह नहीं शान्त होता और दिल्ली वालों के खून की नदी बहती चली जाती है, यहाँ तक कि खुद नादिरशाह के मुँहलगे अफसर भी उसके सामने आने का साहस नहीं करते, तो वह हथेलियों पर जान रखकर नादिरशाह के पास पहुँचा और यह शेर पढ़ा—

'कसे न मांद कि दीगर ब तेगे नाज़ कुशी।
मगर कि ज़िंदा कुनी ख़ल्क रा व बाज-कुशी।'

इसका अर्थ यह हुआ कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को जिन्दा न छोड़ा। अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दों को फिर ज़िला दे और फिर उन्हें मारना शुरू करे। यह फारसी के एक प्रसिद्ध कवि का श्रृंगार-विषयक शेर है; पर इसे सुनकर कातिल के दिल में मनुष्य जाग उठा। इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श कर दिया और कत्लेआम तुरन्त बन्द कर दिया गया। नेपोलियन के जीवन की वह घटना भी प्रसिद्ध है, जब उसने एक अँगरेज मल्लाह को झाऊँ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा। जब फ्रांसीसी अपराधी मल्लाह को पकड़ कर नेपोलियन के सामने लाये और उसने पूछा—तू इस भंगुर नौका पर क्यों समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा—इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मैं उसे एक बार देखना चाहता था। नेपोलियन की आँखों में आँसू छलछला आये। मनुष्य का कोमल भाग स्पन्दित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रांसीसी नौका पर इंगलैंड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल-प्रपंच, या और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाये हैं। विश्व की

आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—साहित्य। योरुप का साहित्य उठा लीजिए। आप वहाँ संघर्ष पायेंगे। कहीं खूनी कांडों का प्रदर्शन है, कहीं जासूसी कमाल का। जैसे सारी संस्कृति उन्मत्त होकर मरु में जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैयक्तिक स्वार्थपरायणता दिन-दिन बढ़ती जाती है, अर्थलोलुपता की सीमा नहीं; नित्य दंगे, नित्य लड़ाइयाँ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के कांटे पर तौली जा रही है। यहाँ तक कि अब किसी यूरोपीय महात्मा का उपदेश सुनकर भी सन्देह होता है कि इसके परदे में स्वार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, तो समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते। नयी सभ्यता का जीवन 150 साल से अधिक नहीं, पर अभी से संसार उससे तंग आ गया है; पर इसके बदले में उसे कोई ऐसी वस्तु नहीं मिल रही है, जिसे वहाँ स्थापित कर सके। उसकी दशा उस मनुष्य की सी है, जो यह समझ रहा है कि वह जिस रास्ते पर जा रहा है वह ठीक रास्ता नहीं है; पर वह इतनी दूर जा चुका है कि अब लौटने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। वह आगे ही जायगा। चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यों न लहरें मार रहा हो। उसमें नैराश्य का हिंसक बल है, आशा की उदार शक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। योरुप का कोई व्यक्ति लखपती होकर, जायदाद खरीदकर, कम्पनियों में हिस्से लेकर, और ऊँची सोसायटी में मिलकर, अपने को कृतकार्य समझता है। भारत अपने को उस समय कृतकार्य समझता है, जब वह इस माया-बन्धन से मुक्त हो जाता है, जब उसमें भोग और अधिकार का मोह नहीं रहता। किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और बाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की. वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किये हुए हैं। राम अगर बाल्मीकि के साँचे में न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे में ढलकर सीता हुई। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकते; पर धन्वन्तरि के एक होने पर भी संसार में वैद्यों की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान् दायित्व जिस वस्तु पर है, उसके निर्माताओं का पद कुछ कम जिम्मेदारी का नहीं है। कलम हाथ में लेते ही हमारे सिर पर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। साधारण युवावस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन में अन्धाधुन्ध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फौजदार बन जाते हैं। तुरन्त आँखें काले धब्बे की ओर पहुँच जाती हैं। यथार्थवाद के प्रवाह में बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते हैं। यह सत्य है कि कोई मकान गिराकर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलों और बन्धनों को तोड़ने की जरूरत है, पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम

समझते हैं कि मज़ेदार, चटपटी और ओजपूर्ण भाषा में लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अंग है, पर स्थायी-साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिराने वाले इंजीनियर नहीं कहलाते। इंजीनियर तो निर्माण ही करता है। हम में जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं, उन्हें बहुत आत्म-संयम की आवश्यकता है; क्योंकि वह अपने को एक महान पद के लिए तैयार कर रहे हैं, जो अदालतों में बहस करने या कुरसी पर बैठकर मुकदमे का फैसला करने से कहीं ऊँचा है। उसके लिए केवल डिग्रियाँ और ऊँची शिक्षा काफी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौन्दर्य-तत्त्व का ज्ञान, इसकी कहीं ज्यादा जरूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है। जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे, तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीक और व्यास दोनों तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी थे। हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता, तो इसका कारण यही है कि हमने साहित्य-रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की। दो-चार नुस्खे याद करके हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हममें साहित्य-सेवी उत्पन्न हों, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्मज्ञानी।

7
मजदूरी और प्रेम

पूर्णसिंह

हल चलाने वाले और भेड़ चराने वाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलाने वाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुण्ड की ज्वाला की किरणें चावल के लम्बे और सफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियाँ-सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ, तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन में गिरकर उगे हैं और हवा तथा प्रकाश की सहायता से वे मीठे फलों के रूप में नजर आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में आहुति देता हुआ-सा दिखायी देता है। कहते हैं, ब्रह्माहुत से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरीय प्रेम का केन्द्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में विचर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की नीरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा, जप और तप यह नहीं करता, सन्ध्या-वन्दनादि इसे नहीं आते, ज्ञान-ध्यान का इसे पता नहीं, मसजिद, गिरजा, मन्दिर से इसे सरोकार नहीं, केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठण्डे चश्मे और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठकर वह अपने हल-बैलों को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल-खेल कर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैलों और गौओं से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसाने वाले के दर्शनार्थ इसकी आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः, दिन और रात, विधाता इसके हृदय में अचिन्त-नीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ

जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे तो उसका इसे ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इसकी खेती हरी-भरी है, गाय इसकी दूध देती है, स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है, मकान इसका पुण्य और आनन्द का स्थान है। पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रात गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई।" भोले-भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य और चन्द्रमा छन-छन कर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बे-मुकुट के गोपालों का दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पांव, एक टोपी सिर पर एक लँगोटी कमर में, एक काली कमली कन्धे पर, एक लम्बी लाठी हाथ में लिये हुए गौओं का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का महाराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठाने वाला, भूखों और नंगों का पालने वाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिये को देखा। घना जंगल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सफेद ऊन वाली भेड़ें अपना मुँह नीचा किये हुए कोमल-कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेमलीला छायी हुई है। वह निरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके सारे सफेद हैं, और क्यों न सफेद हों! सफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परन्तु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानो विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा हो। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उसके साथ जंगल-जंगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता-पिता और भेड़ों को छोड़कर उन्होंने कि ी और को नहीं देखा। मकान उनका बे-मकान है, घर इनका बे-घर है, ये लोग बे-नाम और बे-पता हैं।

किसी घर में न घर बैठना इस दारे फानी में।
ठिकाना बे-ठिकाना औ मकाँ बर ला-मकाँ रखना॥

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोंपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य और रात को तारागण इनके सखा हैं।

गड़रिये की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य का अस्त होना देख रही है। उसकी सुनहरी किरणें इसके लावण्यमय मुख पर पड़ रही हैं। यह सूर्य को देख रही है और वह इसको देख रहा है।

हुए ये आँखों के कल इशारे इधर हमारे उधर तुम्हारे।
चले ये अश्कों के क्या इशारे इधर हमारे उधर तुम्हारे॥

बोलता तो कोई भी नहीं। सूर्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य की महिमा में पड़ी नाच रही है।

इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और वन की सुगन्ध से सुगन्धित है। इनके मुख, शरीर और अन्तःकरण सफेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेड़ सफेद। अपनी सफेद भेड़ों में यह परिवार शुद्ध सफेद ईश्वर के दर्शन करता है।

जो खुदा को देखना हो तो मैं देखता हूँ तुमको।
मैं देखता हूँ तुमको जो खुदा को देखना हो॥

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, बस परिवार पर विपत्ति आयी। दिन-रात उसके पास बैठे काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सबकी आँखें शून्य आकाश में किसी को देखते-देखते गल गयीं। पता नहीं, ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की उन्हें फुरसत नहीं। पर, हाँ, इन सबकी आँखें किसी के आगे शब्दरहित, संकल्परहित मौन प्रार्थना में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुजर गयीं। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिर आये और झम-झम बरसने लगे। मानो प्रकृति देवता भी इनके आनंद से आनन्दित हुए। बूढ़ा गड़रिया आनन्दमत्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नहीं, पर किसी दैवी दृश्य को उसने अवश्य देखा है। वह फूले अंग नहीं समाता, रगरग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक दूसरे का हाथ पकड़ कर पहाड़ी राग आरम्भ कर दिया। साथ ही धम-धम थम-थम नाच की उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानन्द का समाँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उससे कहा "भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जावें तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस बनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायें और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चन्द्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान हो रहा है, उस गड़रिये की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परन्तु कदाचित प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं ऋषियों ने भी इनको देखा ही था, सुना न था। पण्डित की ऊटपटाँग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मन्द-मन्द हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे है। पशुओं के अज्ञान में गम्भीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गड़रिये के परिवार की प्रेम-मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है?

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ पर रखकर, "यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी।" वाह क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, आँखें इत्यादि सब के सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिये। ये सब चीजें उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिये, वे भी आपके न थे। वे तो पृथ्वी

से निकली हुई धातु के टुकड़े थे, अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज ने मेरी पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मजदूर को कुछ भी नहीं दे सका। परन्तु उसने मेरी उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है, पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अन्तःकरण में रोज भरत-मिलाप का-सा समाँ बँध जाता है।

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है, साथ ही साथ वह अपने दुर्भाग्य पर रोती भी है। दिन को खाना न मिला, रात को कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक-एक टांके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी, तब कुछ तो खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है, तब ठहर जाती है। सुई हाथ में लिये हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है, जिसमें बादल बरसकर अभी-अभी बिखर गये हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरान्त "हे राम" कहकर उसने फिर सीना शुरू कर दिया। इस माता और इस बहन की सिली हुई कमीज मेरे लिए शरीर का नहीं, मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थ-यात्रा है। इस कमीज में उस विधवा के सुख-दुःख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवनरूपिणी गंगा की बाढ़ चली आ रही है। ऐसी मजदूरी और ऐसा काम प्रार्थना, सन्ध्या और नमाज से क्या कम है? शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती। ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएँ सुनता है और तत्काल सुनता है।

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों से उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगन्ध आती है। राइफल आदि की चित्रित चित्रों में उनकी कला की कुशलता को देख, इतनी सदियों के बाद भी, उनके अन्तःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किन्तु साथ ही, उसमें छिपी चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परन्तु यन्त्रों की सहायता से बने फोटो निर्जीव-से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है, जितना कि बस्ती और श्मशान में।

हाथ की मेहनत से चीज में जो रस भर जाता है, वह भला लोहे के द्वारा बनायी चीज में कहाँ। जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द-गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूँ; उस आलू में जो रस मुझे आता है, वह टीन में बन्द किये हुए अचार-मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और

मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिन्दा करने की शक्ति आ जाती है। होटल में बने हुए भोजन महानीरस होते हैं, क्योंकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परन्तु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए रूखे-सूखे भोजन में कितना रस होता है। जिस मिट्टी के घड़े को कन्धों पर उठाकर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठण्डा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मैं पीता हूँ तब जल क्या पीता हूँ, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत का पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम-प्याला पीता हो, उसके लिए शराब क्या वस्तु है? प्रेम से जीवन सदा गद्‌गद् रहता है। मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेमभरी, रसभरी, दिलभरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ?

उधर प्रभात ने अपनी सफेद किरणों से अँधेरी रात पर सफेदी-सी छिटकाई, इधर मेरी प्रेयसी, मैंना अथवा कोयल की तरह, अपने बिस्तर से उठी। उसने गाय का बछड़ा खोला, दूध की धारों से अपना कटोरा भर लिया। गाते-गाते अन्न को अपने हाथों से पीसकर सफेद आटा बना लिया। इस सफेद आटे से भरी हुई छोटी-सी टोकरी सिर पर, एक हाथ में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा, दूसरे हाथ में मक्खन की हाँडी। जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है, तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनन्ददायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है। उस समय वह उस प्रभा से अधिक रसीली, अधिक रँगीली, जीती-जागती, चैतन्य और आनन्दमयी प्रातःकालीन शोभा-सी लगती है। मेरी प्रिया अपने हाथों से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिनगारी से लाल अग्नि में बदल देती है। जब वह आटे को छलनी से छानती है तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्‌भुत ज्योति की लौ नजर आती है। जब वह उस अग्नि के ऊपर मेरे लिए रोटी बनाती है, तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व दिशा की नभोलालिमा से भी अधिक आनन्ददायिनी लालिमा दीख पड़ती है। यह रोटी नहीं कोई अमूल्य पदार्थ है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रखा है। मेरा यही योग है।

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाप की कलों का दाम तो हजारों रुपया है, परन्तु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ मिलते हैं। सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनन्द नहीं मिल सकता, सच्चा आनन्द तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाय तो फिर स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा नहीं। मनुष्य-पूजा सच्ची ईश्वर-पूजा है। मन्दिर और गिरजे में क्या रखा है? ईंट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो, आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मन्दिर, मसजिद-गिरजा और पोथी में न करेंगे। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है, धर्म है। मनुष्य के हाथ ही से तो ईश्वर के दर्शन कराने वाले निकलते हैं। मनुष्य

और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मजदूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिन्तन किस काम के ? सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादरियों, मौलवियों, पण्डितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिन्तन, अन्त में पाप, आलस्य, भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुँह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती, वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। वही आसन ईश्वर प्राप्त करा सकते हैं, जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान् करने वाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम, सब के सब प्रेम-शरीर के अंग हैं।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिन्तन-शक्ति थक गयी है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे मन के घोड़े हार गये हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता में नयापन नहीं। उसमें पुराने जमाने की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नकल में असल की पवित्रता और कुँवारेपन का अभाव है। अब तो एक नये प्रकार का कला-कौशलपूर्ण संगीत साहित्य-संसार में प्रचलित होने वाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिए। यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूरों के कण्ठ से यह नयी कविता निकलेगी, जो अपना जीवन आनन्दमय बनाने के साथ खेत की मेंड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी के रंगों का, पत्थर की नसों का भेदभाव दूर करेंगे। हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नंगे सिर और नंगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रँगे हुए वे बे-जबान कवि जब जंगल में लकड़ी काटेंगे, तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायुयान पर चढ़ दसों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावन्तों के लिए वही ध्रुपद और मलार का काम देगा। चरखा कातने वाली स्त्रियों के गीत संसार के सभी देशों के कौमी गीत होंगे। मजदूरों की मजदूरी ही यथार्थ पूजा होगी। कलारूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी, तभी नये कवि पैदा होंगे, तभी नये औलियों का उद्भव होगा। परन्तु ये सब के सब मजदूरों के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्हीं मजदूर ऋषियों के उद्यान में प्रफुल्लित होंगे।

8
लज्जा और ग्लानि

रामचन्द्र शुक्ल

हम जिन लोगों के बीच रहते हैं अपने विषय में उनकी धारणा का जितना ही अधिक ध्यान रखते हैं, उतना ही अधिक प्रतिबन्ध अपने आचरण पर रखते हैं। जो हमारी बुराई, मूर्खता या तुच्छता के प्रमाण पा चुके रहते हैं, उनके सामने हम उसी धड़ाके के साथ नहीं जाते जिस धड़ाके के साथ औरों के सामने जाते हैं। यहीं तक नहीं, जिन्हें इस प्रकार का प्रमाण नहीं भी मिला रहता है, उनके आगे भी कोई काम करते हुए यह सोचकर कुछ आगा-पीछा होता है कि कहीं इस प्रकार का प्रमाण उन्हें मिल न रहा हो। दूसरों के चित्त में अपने विषय में बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है—उनकी स्वच्छन्दता के विघात का जो अनुभव होता है—उसे लज्जा कहते हैं। इस मनोवेग के मारे लोग सिर ऊँचा नहीं करते, मुँह नहीं दिखाते, सामने नहीं आते, साफ-साफ कहते नहीं, और भी न जाने क्या-क्या नहीं करते। 'हम बुरे न समझे जायँ' यह स्थायी भावना जिसमें जितनी ही अधिक होगी, वह उतना ही लज्जाशील होगा। 'कोई बुरा कहे चाहे भला' इसकी परवा न करके जो काम किया करते हैं, वे ही निर्लज्ज कहलाते हैं।

जिस समाज में हम कोई बुराई करते हैं, जिस समाज में हम अपनी मूर्खता, धृष्टता आदि का प्रमाण दे चुके रहते हैं, उसके अंग होने का स्वत्व हम जता नहीं सकते, अतः उसके सामने अपनी सजीवता के लक्षणों को उपस्थित करते या रखते नहीं बनता—यह प्रकट करते नहीं बनता कि हम भी इस संसार में हैं। जिसके साथ हमने कोई बुराई की होती है, उसे देखते ही हमारी क्या दशा होती है? हमारी चेष्टाएँ मन्द पड़ जाती हैं, हमारे ऊपर घड़ों पानी पड़ जाता है, हम गड़ जाते हैं या चाहते हैं कि धरती फट जाती और हम उसमें समा जाते। सारांश यह कि यदि हम कुछ देर के लिए मर नहीं जाते तो कम-से-कम अपने जीने के प्रमाण अवश्य समेट लेते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि लज्जा का कारण अपनी बुराई, त्रुटि या दोष हमारा अपना निश्चय नहीं, दूसरे के निश्चय का निश्चय या अनुमान है, जो हम बिना किसी प्रकार का प्रमाण पाये केवल अपने आचरण या परिस्थिति-विशेष पर दृष्टि रखकर ही कभी-कभी कर लिया करते हैं। हम अपने को दोषी समझें यह आवश्यक नहीं; दूसरे हमें दोषी या बुरा समझें यह भी आवश्यक नहीं, आवश्यक है हमारा यह समझना कि दूसरा हमें दोषी या बुरा समझता है या समझता होगा। जो आचरण लोगों को बुरा लगा करता है, जिस अवस्था का लोग उपहास किया करते हैं, जिस बात से लोग घृणा किया करते हैं, यदि हम समझते हैं कि लज्जित होने के लिए लोगों के देखने में वह आचरण हमसे हो गया, उस अवस्था में हम पड़ गए या वह बात हमसे बन पड़ी, तो हम लज्जित होने के लिए इसका आसरा न देखेंगे कि जिन लोगों के सामने ऐसी बात हुई है वे निन्दा करें, उपहास करें या छि: छि: करें। वे निन्दा करें या न करें, उपासना करें या न करें, घृणा प्रकट करें या न करें; पर हम समझते हैं कि मधुशाला उनके पास है, वे उसका उपयोग करें या न करें। यह अवश्य है कि उपयोग होने पर हमारी लज्जा का वेग या भार बहुत बढ़ जाता है, पर कभी-कभी इसका उल्टा भी होता है। जिसके साथ हमने कोई भारी बुराई की होती है, वह यदि दस आदमियों के सामने मिलने पर मौन रहे, हमारा गुणानुवाद करने लगे, हमसे प्रेम जताने लगे या हमारा उपकार करने चले, तो शायद हम अपने डूबने के लिए चुल्लू भर पानी ढूंढ़ने लगेंगे। वन से लौटने पर रामचन्द्र कैकेयी से मिले और "रामहिं मिलत कैकेयी हृदय बहुत सकुचानि।" पर जब लक्ष्मण "कैकेयी कहँ पुनि-पुनि मिले" तो वह लज्जा से धँस गई होगी। चित्रकूट में जब राम पहले कैकेयी से मिले होंगे, तब उसकी क्या दशा हुई होगी?

निन्दा का भय लज्जा नहीं है, भय ही है, और कई बातों का, जिसमें लज्जा भी एक है। हमें निन्दा का भय है; इसका मतलब है कि हमें उसके परिणामों का भय है—अपने कुढ़ने, दु:खी होने, लज्जित होने, हानि सहने इत्यादि का भय है।

विशुद्ध लज्जा अपने विषय में दूसरे की ही भावना पर दृष्टि रखने से होती है। अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों से जो शैथिल्य आता है, उसे 'ग्लानि' कहते हैं। इसे अधिकतर उन लोगों को भोगना पड़ता है, जिनका अन्त:करण सत्त्वप्रधान होता है, जिनके संस्कार सात्त्विक होते हैं, जिनके भाव कोमल और उदार होते हैं। जिनका हृदय कठोर होता है, जिनकी वृत्ति क्रूर होती है, जो सिर से पैर तक स्वार्थ में निमग्न होते हैं, उन्हें सहने के लिये संसार में इतनी बाधाएँ, इतनी कठिनाइयाँ, इतने कष्ट होते हैं कि ऊपर से इसकी भी न उतनी जरूरत रहती है, न जगह। मन में ग्लानि आने के लिए यह आवश्यक नहीं कि जो हमारी बुराई, मूर्खता; तुच्छता आदि से परिचित हों या परिचित समझे जाते हों, उनका सामना हो। हम अपना मुंह न दिखाकर लज्जा से बच सकते हैं, पर

ग्लानि से नहीं। कोठरी में बन्द, चारपाई पर पड़े-पड़े लिहाफ के नीचे भी लं ग्लानि से गल सकते हैं। चित्र-कूट में भरत-राम के मिलाप के स्थान पर जब जनक के आने का समाचार पहुँचा, तब "सुनत जनक-आगमन सब हरखेउ अवध समाज।' पर "गरई गलानि कुटिल कैकेयी।"

ग्लानि में अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता आदि के अनुभव से जो सन्ताप होता है वह अकेले में भी होता है और दस आदमियों के सामने प्रकट भी किया जाता है। ग्लानि अन्तःकरण की शुद्धि का एक विधान है। उससे इसके उद्गार में अपने दोष, अपराध, तुच्छता, बुराई इत्यादि का लोग दुःख से या सुख से कथन भी करते हैं—उसमें दुराव या छिपाव की प्रवृत्ति नहीं रहती। अपने दोष का अनुभव, अपने अपराध का स्वीकार, आन्तरिक अस्वस्थता का उपचार तथा सच्चे सुधार का द्वार है। 'हम बुरे हैं' जब तक यह न समझेंगे, तब तक अच्छे नहीं हो सकते। 'हम बुरे हैं' दूसरों के कान में पड़ते ही इसका अर्थ उलट जाता है।

दूसरों को हम अच्छे नहीं लगते, यह समझकर हम लज्जित होते हैं। अतः औरों को अच्छी न लगने वाली अपनी बातों को केवल उनकी दृष्टि से दूर रखकर ही बहुत से लोग न लज्जित होते हैं, न निर्लज्ज कहलाते हैं। दूसरों के हृदय में अज्ञान की प्रतिष्ठा करके, वे उनकी शरण में जाते हैं पर अज्ञान, चाहे अपना हो चाहे पराया, सब दिन रक्षा नहीं कर सकता। बलि-पशु होकर ही हम उसके आश्रय में पलते हैं। जीवन के किसी अंग की यदि वह रक्षा करता है तो सर्वांग भक्षण के लिए। अज्ञान अन्धकारस्वरूप है। दीया बुझाकर भागने वाला यदि समझता है कि दूसरे उसे देख नहीं सकते, तो उसे यह भी समझ रखना चाहिए कि वह ठोकर खाकर गिर भी सकता है।

कोई बात ऐसी है जिसके प्रकट हो जाने के कारण हम दूसरों को अच्छे नहीं लगते हैं यह जानकर अपने को और प्रकट होने पर अच्छे नहीं लगेंगे, यह समझ कर उस बात को, थोड़े बहुत यत्न से उसके दृष्टिपथ से दूर करके भी जब हम समय पर अपना बचाव कर सकते हैं, यही नहीं अपने व्यवधान-कौशल पर विश्वास कर सदा बचते चले जाने की आशा तक—चाहे झूठी ही क्यों न हो—कर सकते हैं, तब हमारा केवल यह जानना या समझना सदा सुधार की इच्छा ही उत्पन्न करेगा कैसे कहा जा सकता है? दूसरों का भय हमें भगा सकता है, हमारी बुराइयों को नहीं। दूसरों से हम भाग सकते हैं, पर अपने से नहीं। जब अपने को हम अच्छे न लगने लगेंगे, तब सिवा इसके कि हम अच्छे हों या अच्छे होने की आशा करें, आत्म-ग्लानि से बचने का और कोई उपाय न रहेगा पर जिनके अन्तःकरण में अच्छे संस्कारों का बीज रहता है, ग्लानि उन्हीं को होती है।

संकल्प या प्रवृत्ति हो जाने पर बुराई से बचाने वाले तीन मनोविकार हैं—सात्त्विक वृत्ति वालों के लिए ग्लानि, राजसी वृत्ति वालों के लिए लज्जा और तामसी वृत्ति वालों के लिए भय। जिन्हें अपने किये पर ग्लानि नहीं हो सकती वे लोकलज्जा

से, जिनमें लोक-लज्जा का लेश नहीं रहता वे भय से, बहुत से कामों को करते हुए हिचकते हैं। प्रायः कहा जाता है कि बहुत से लोग इच्छा रखते हुए भी बुरे काम लज्जा के मारे नहीं करते पर लज्जा का अनुभव एक प्रकार के दुःख का ही अनुभव है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि कर्म न करने पर भी अपनी इच्छा मात्र पर उन्हें यह दुःख होता है; क्योंकि यदि ऐसा होता तो वे इच्छा रखते ही क्यों ? सच पूछिए तो उन्हें उस दुःख की आशंका मात्र रहती है, जो लोगों के धिक्कार, बुरी धारणा आदि से उन्हें होगा। वास्तव में उन्हें लज्जा की आशंका रहती है, इस बात का डर रहता है कि कहीं लज्जित न होना पड़े, लज्जा का अनुभव तो तभी होगा, जब वे कुकर्म की ओर इतने अग्रसर हो चुके रहेंगे कि यह समझ सकें कि लोगों के मन में बुरी धारणा हो गई होगी। उस समय उनका पैर आगे नहीं बढ़ेगा।

आशंका अनिश्चयात्मक वृत्ति है। इससे लज्जा ही हो सकती है जिसका सम्बन्ध दूसरों की धारणा से होता है। ग्लानि की आशंका नहीं हो सकती। क्योंकि उसका सम्बन्ध अपने से कहीं बाहर ही बुरी धारणा से होता है, जिसमें अनिश्चय का भाव नहीं रह सकता। जिससे बुराई की जितनी ही अधिकतम सम्भावना होती है, उसे रोकने का उतने ही पहले से उपाय किया जाता है। जिन्हें अपने किये पर ग्लानि हो सकती है उनके लिए उतने पहले से प्रतिबन्ध की आवश्यकता नहीं होती, जितने पहले से उनके लिए होती है, जो केवल यही समझकर दुःखी होते हैं कि 'लोग बुरा समझते हैं' यह समझकर नहीं कि कि 'हम बुरे हैं।' जो निपट निर्लज्ज होते हैं जो दूसरों की बुरी धारणा की भी तब तक परवा नहीं करते जब तक उससे किसी उग्र फल की आशंका नहीं होती, उनके कर्म प्रायः इतने बुरे, असह्य हुआ करते हैं कि दूसरे उन्हें बुरा समझ कर ही नहीं रह जाते, छिः छिः करके ही सन्तोष नहीं कर लेते, मरम्मत करने के लिए भी तैयार हो जाते हैं, जिससे उन्हें कभी भयभीत होना पड़ता है, कभी सशंक।

मनुष्य लोक-बद्ध प्राणी है, इससे वह अपने को उनके कर्मों के गुण-दोष का भी भागी समझता है जिनसे उनका सम्बन्ध होता है, जिनके साथ में वह देखा जाता है। पुत्र की अयोग्यता और दुराचार, भाई के दुर्गुण और असभ्य व्यवहार आदि का ध्यान करके भी दस आदमियों के सामने सिर नीचा होता है। यदि हमारा साथी हमारे सामने किसी तीसरे आदमी से बातचीत करने में भारी मूर्खता का प्रमाण देता है, भद्दी और ग्राम्य भाषा का प्रयोग करता है, तो हमें भी लज्जा आती है। मैंने कुत्ते के कई शौकीनों को अपने कुत्ते की बदतमीजी पर शरमाते देखा है। जिसे लोग कुमार्गी जानते हैं, उसके साथ यदि हम कभी देव-मन्दिर के मार्ग पर भी देखे जाते हैं तो सिर झुका लेते हैं या बगलें झाँकते हैं। बात यह है कि जिसके साथ हम देखे जाते हैं, उसका हमारा कितनी बातों में कहाँ तक साथ है, दूसरों को इसके अनुमान की पूरी स्वच्छन्दता रहती है, उनकी कल्पना की कोई सीमा हम तत्काल बाँध नहीं सकते।

किसी बुरे प्रसंग में यदि निमित्त रूप से भी हमारा नाम आ जाता है तो हमें लज्जा होती है—चाहे ऐसा हमारी जानकारी में हुआ हो, चाहे अन्जाने में। यदि बिना हमें जताये हमारे पक्ष में कोई कुचक्र रचा जाय तो उसका वृत्तान्त फैलने पर हमें लज्जा क्या ग्लानि तक हो सकती है। लज्जा का होना तो ठीक है, क्योंकि वह दूसरों की धारणा के कारण होती है, अपनी धारणा के कारण नहीं पर ग्लानि कैसे होती है, 'हम बुरे या तुच्छ हैं', यह धारणा कहाँ से आती है, यही देखना है। अपमान होने पर क्रोध के लिए स्थान हुआ तो क्रोध का, नहीं तो अपनी तुच्छता का अनुभव होता है। दूसरों के चित्त में हमारे प्रति जो प्रेम या प्रतिष्ठा का भाव रहता है उसका ह्रास, किसी कुचक्र के साथ अपना नाममात्र का सम्बन्ध समझकर भी, हम समझे बिना नहीं रह सकते। जब स्थिति ऐसी होती है कि इस ह्रास का न समाधान द्वारा निराकरण कर सकते हैं न क्रोध द्वारा प्रतिकार तो, सिवा इसके कि हम अपनी हीनता का अनुभव करें, और कर ही क्या सकते हैं। भरत को इसी दशा में पाकर राम ने उन्हें समझाया था कि—

तात जाय जनि करहु गलानी।
ईस अधीन जीव-गति जानी॥
तीनि-काल त्रिभुवन मत मोरे।
पुन्यसलोक तात तर तोरे॥
उर आनत तुम पर कुटिलाई।
जाई लोक परलोक नसाई॥

जिसने इतनी बुराई की वह मेरी माता है, इस भावना से जो लज्जा भरत को थी, उसे दूर करने के लिए ही आगे का वचन है—

दोष देहिं जननिहिं जड़ तेई।
जिन गुरु-साधु सभा नहिं सेई॥

इस प्रकार दोष देने वाले से दोषोद्भावना द्वारा अनाधिकार का आरोप करके माता के दोष का परिहार किया गया है।

उत्तम कोटि के मनुष्यों को अपने दुष्कर्म पर ग्लानि होती है और मध्यम कोटि के मनुष्यों को अपने दुष्कर्म के किसी कड़ुए फल पर। दुष्कर्म के अनेक अप्रिय फलों में से एक अपमान है, जिसे सहकर अपनी तुच्छता का अनुभव किए बिना लोग प्रायः नहीं रहते। जिन्हें अपने किसी कर्म की बुराई का ध्यान आपसे आप नहीं होता, उन्हें ध्यान कराने का श्रम उनकी बुराई का विशेष अनुभव कराने वाले, अपनी बुराई का सब ध्यान, अपने हाथ का सब धन्धा, छोड़कर उठाते हैं। इस श्रम से दूसरों के लिए उनकी बुराई का जो फल पैदा किया जाता है उसकी विरसता और कटुता कभी-कभी अत्यन्त ग्लानिकारिणी होती है, पर आँख खुलने पर जो आँख खोलने वालों को न देख सकें, उनकी आँख की दुरुस्ती में बहुत कसर समझनी

चाहिए। अपमान या हानि की जो ग्लानि जो उस अपमान या हानि ही तक ध्यान को ले जाय—उसके कारण तक न बढ़ाए—वह बुराई के मार्ग पर चल चुकने वालों का थोड़ी देर के लिए पैर थाम या बल तोड़ सकती है, पर उसका मुँह दूसरी ओर मोड़ नहीं सकती। अपमान का जो दुःख केवल इन शब्दों में व्यक्त किया जाता है कि 'हा ! हमारी यह गति हुई ?' उससे अपमान करने वालों का काम तो हो जाता है, पर दुःख करने वालों का कोई मतलब नहीं निकलता। जो ग्लानि हमसे यह कहलाये कि 'यदि हमने ऐसा न किया होता तो हमारी यह गति क्यों होती ?' यही पश्चात्ताप की ग्लानि है, जिससे हमारा हृदय पिघलकर किसी नये साँचे में ढलने के योग्य हो सकता है। अतः कोई ऐसी बुराई करके जिससे चार आदमियों को कष्ट पहुँचा हो, हम यह समझने में कि 'हमने बुरा किया' जितनी ही जल्दी करते हैं, उतने ही मजे में रहते हैं, क्योंकि बहुधा ऐसा होता है कि जिन्हें कष्ट पहुँचा रहता है, वे हमारी इस समझ का पता पाकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। अपनी किसी बुराई को वन्धध्यना मानकर मन का खटका छुड़ाने वाले धोखा खाते हैं।

अपमान से जो ग्लानि होती है वह दो भावों के आधार पर—'हम ऐसे तुच्छ हैं' और 'हम ऐसे बुरे हैं।' इन दोनों भावों को कभी-कभी लोग बड़ी फुरती और सफाई से रोकते हैं। अपनी तुच्छता का भाव अधिकांश में अपनी असामर्थ्य और दूसरे के सामर्थ्य का भाव है। हम इतने असमर्थ हैं कि दूसरे हमारा अपमान कर सकते हैं, इस भाव से निवृत्ति तो लोग चट अपनी सामर्थ्य का परिचय देकर—अपमान करने वाले का अपमान करके—कर लेते हैं। रहा अपने दोष या बुराई का भाव, उससे छुटकारा लोग दोष देने वालों में दोष ढूँढ़कर कर लेते हैं। इस प्रकार अपनी सामर्थ्य और दूसरे के दोष की भावना मन में भर कर वे अपनी तुच्छता और बुराई के अनुभव के लिए कोई कोना खाली ही नहीं छोड़ते। ऐसे लोग चाहे लाख बुरायी करें, एक की दस सुनाने को सदा तैयार रहते हैं। अपने को ही कल्पित करके तुलसीदास जी कहते हैं—

जानता हूँ निज पाप जलधि जिय,
जल-सीकर सम सुनत लरौं।
रज़ सम पर-अवगुन सुमेरु करि,
गुन गिरि सम रज तें निदरौं ॥

अकारण अपमान पर जो ग्लानि होती है वह अपनी तुच्छता, अपनी सामर्थ्य-हीनता पर ही होती है। लोक मर्यादा की दृष्टि से हमको इतनी सामर्थ्य सम्पादन करना चाहिए कि दूसरे अकारण हमारा अपमान करने का साहस न कर सकें। समाज में रहकर मान-मर्यादा का भाव हम छोड़ नहीं सकते। अतः इस सामर्थ्य का अभाव हमें खटक सकता है। उसकी हमे ग्लानि हो सकती है। जो संसार-त्यागी या आत्म-त्यागी हैं उनका विगतामान होना तो बहुत ठीक है, पर लोक-व्यवहार की

दृष्टि से अनिष्ट से बचने-बचाने के लिए इष्ट यही है कि हम दुष्टों का हाथ थामें और धृष्टों का मुँह—उनकी वन्दना करके हम पार नहीं पा सकते। इधर हम हाथ जोड़ेंगे, उधर वे हाथ छोड़ेंगे। असामर्थ्य हमें क्षमा या सहनशीलता का श्रेय भी पूरा-पूरा नहीं प्राप्त करने देगी।

मान लीजिए कि एक ओर से हमारे गुरुजी और दूसरी ओर से एक दण्डधारी दुष्ट, दोनों आते दिखाई पड़े। ऐसी अवस्था में पहले हमें उस दुष्ट का सत्कार करके तब गुरुजी को दण्डवत् करना चाहिए। पहले उस दुष्ट द्वारा होने वाले अनिष्ट का निवारण कर्त्तव्य है, फिर उस आनन्द का अनुभव जो गुरुजी के चरण-स्पर्श से होगा। यदि हम पहले गुरुजी को साष्टांग दण्डवत करने लगेंगे तो बहुत सम्भव है कि वह दुष्ट हमारे अंगों को फिर उठने लायक ही न रखे। यदि हममें सामर्थ्य नहीं है तो हमें बिना गुरुजी को प्रणाम दण्डवत् किये ही भागना पड़ेगा, जिसकी शायद हमें बहुत दिनों तक ग्लानि रहे।

लज्जा का एक हलका रूप संकोच है जो किसी काम को करने के पहले ही होता है। कर्म पूरा होने के साथ ही उसका अवसर निकल जाता है, फिर तो लज्जा ही लज्जा हाथ रह जाती है। सामान्य से सामान्य व्यवहार में भी संकोच देखा जाता है। लोग अपना रुपया माँगने में संकोच करते हैं, साफ-साफ बात कहने में संकोच करते हैं, उठने-बैठने में संकोच करते हैं, लेटने में संकोच करते हैं, खाने-पीने में संकोच करते हैं, यहाँ तक कि एक सभा के सहायक मन्त्री हैं जो कार्य-विवरण पढ़ने में संकोच करते हैं। सारांश यह है कि एक बेवकूफी करने में लोग संकोच नहीं करते और सब बातों में करते हैं। इससे उतना हर्ज भी नहीं, क्योंकि बिना बेवकूफ हुए बेवकूफी का बुरा लोग प्रायः नहीं मानते। इतनी क्रियाओं का प्रतिबन्धक होने के कारण संकोचशील का एक प्रधान अंग, सदाचार का एक सहज साधक और शिष्टाचार का एकमात्र आधार है। जिसमें शील-संकोच नहीं, वह पूरा मनुष्य नहीं। बाहरी प्रतिबन्धों से ही हमारा पूरा शासन नहीं हो सकता—उन सब बातों की रुकावट नहीं हो सकती, जिन्हें हमें न करना चाहिए। प्रतिबन्ध हमारे अन्तःकरण में होना चाहिए। यह आभ्यन्तर प्रतिबन्ध दो प्रकार का हो सकता है—एक विवेचनात्मक जो प्रयत्न साध्य होता है, दूसरा मनःप्रवृत्त्यात्मक जो स्वभावज होता है। बुद्धि द्वारा प्रवृत्ति जबरदस्ती रोकी जाती है, पर लज्जा, संकोच आदि की अवस्था में प्राप्त होकर प्रवर्त्तक मन आपसे आप रुकता है—चेष्टाएँ आपसे आप शिथिल पड़ती हैं। यही रुकावट सच्ची है। मन की जो वृद्धि बड़ों की बात का उत्तर देने से रोकती है, बार-बार किसी से कुछ माँगने से रोकती है, किसी पर किसी प्रकार का भार डालने से रोकती है, उनके न रहने से भलमनसाहत भला कहाँ रहेगी। यदि सबकी धड़क एक-बारगी खुल जाय तो एक ओर छोटे मुँह से बड़ी-बड़ी बातें निकलने लगें, चार दिन के मेहमान तरह-तरह की फरमाइशें करने लगें, उँगली का सहारा पाने वाला बाँह पकड़कर खींचने लगे, दूसरी ओर बड़ों का बहुत कुछ बड़प्पन निकल जाय,

गहरे-गहरे साथी बहरे हो जायँ या सूखा जवाब देने लगे, जो हाथ सहारा देने के लिए बढ़ते हैं वे ढकेलने के लिए बढ़ने लगें—फिर तो भलमनसाहत का भार उठाने वाले इतने कम रह जायँ कि वे उसे लेकर चल ही न सकें।

संकोच इस बात के ध्यान या आशंका से होता है कि जो कुछ हम करने जा रहे हैं वह किसी को अप्रिय या बेढंगा सो न लगेगा, उससे हमारी दुःशीलता या धृष्टता तो न प्रकट होगी। इस बात का जिन्हें कुछ भी ध्यान नहीं रहता, उनका दस आदमियों का साथ नहीं निभ सकता और जिन्हें अत्यन्त ध्यान रहता है, उनके भी कामों में बाधा पड़ती है। मनोभावों की परस्पर अनुकूल स्थिति होने से ही संसार के व्यवहार चलते हैं। यदि एक इस बात का ध्यान रखता है कि दूसरे को कोई बात खटके न, बुरी न लगे और दूसरा उसकी हानि, कठिनाई आदि का कुछ भी ध्यान नहीं रखता है तो यह स्थिति व्यवहारबाधक है। ऐसी स्थिति में भी संकोच करने वालों के काम देर से निकलते हैं या निकलते ही नहीं पर इससे यह न समझना चाहिए कि जितने 'अपने संकोची स्वभाव' की शिकायत के बहाने अपनी तारीफ किया करते हैं वे सब अपनी भलमनसाहत से ही दुःख भोगा करते हैं। ऐसे लोगों में संकोच का तो नाममात्र न समझना चाहिए। जिन्हें यह कहने में संकोच नहीं कि 'हम बड़े संकोची हैं', उनमें संकोच कहाँ? उन्हें यह कहते देर नहीं कि 'अमुक बड़ा निर्लज्ज है, बड़ा दुष्ट है।'

लज्जा या संकोच यदि बहुत अधिक होता है तो उसे छुड़ाने की फिक्र की जाती है, क्योंकि उससे कभी-कभी आवश्यकता से अधिक कष्ट उठाना पड़ता है तथा व्यवहार तो व्यवहार शिष्टाचार तक का निर्वाह कठिन हो जाता है। सुख से रहने का सीधा रास्ता बतलाने वाले ने तो 'आहार और व्यवहार' में लज्जा का एकदम त्याग ही विधेय ठहराया है पर मुझे तो यहाँ देखना है कि बात-बात में लज्जा करने वालों की मनोवृत्ति कैसी होती है, उनके चित्त में समाई क्या रहती है। कोई क्रिया या व्यापार किसी को बुरा, बेढंगा या अप्रिय न लगे यह ध्यान तो निर्दिष्ट और स्पष्ट होने के कारण कुछ विशिष्ट व्यापारों का ही अवरोध करता है, क्योंकि जो-जो काम लोगों को बुरे, बेढंगे या अप्रिय लगा करते हैं, उनकी एक छोटी या बड़ी सूची सबके अनुभव में रहती है पर जो यही अनिश्चित भावना रखकर संकुचित होते हैं कि कोई बात 'लोगों को न जाने कैसी लगे', उन्हें न जाने कितनी बातों में संकोच या लज्जा हुआ करती है। उन्हें बात-बात में खटका होता है कि उनका बैठना न जाने कैसा मालूम होता हो, बोलना न जाने कैसा मालूम होता हो, हाथ-पैर हिलाना न जाने कैसा मालूम होता हो, ताकना न जाने कैसा मालूम होता हो, यहाँ तक कि उनके ऐसे आदमी का होना—वे कैसे हैं, चाहे वे कुछ भी न जानते हों—न जाने कैसा मालूम होता हो। न जाने कैसे लगने का डर उन्हें लोगों के लगाव से दूर-दूर रखता है। यह आशंका इतनी अव्यक्त होती है, लज्जा और इसके बीच का अन्तर इतना क्षणिक होता है कि साधारणतः इसका लज्जा से अलग अनुभव नहीं होता।

कुछ लोगों के मुंह से लज्जा या संकोच के मारे आदर-सत्कार के आवश्यक वचन नहीं निकलते, बहुत से लड़कों को प्रणाम करने में लज्जा मालूम होती है। ऐसी लज्जा किसी काम की नहीं समझी जाती। बच्चों को अपनी तुच्छता, बुराई या बेढंगेपन की भावना बहुत कम होती है। वे अपनी क्रियाओं में स्वभावतः स्वच्छन्द होते हैं पर विशेष स्थिति में पड़कर वे इतने भीरु और लज्जालु हो जाते हैं कि नये आदमियों के सामने नहीं आते, लाख पूछने पर कोई बात मुंह से नहीं निकालते। ऐसी दशा अधिकतर उन बच्चों की हो जाती है जो बात-बात पर, उठते-बैठते, हिलते-डोलते, डाँटे, धिक्कारे या चिढ़ाये जाते हैं। लोग अक्सर प्यार से बच्चों की किसी भद्दे, बेढंगे या बुरे आदमी का ध्यान कराकर उन्हें चिढ़ाते हैं कि 'तुम वही हो।' इस प्रकार उन्हें शरमाने, संकोच करने, लज्जित होने आदि का अभ्यास कराया जाता है, जो बढ़ते-बढ़ते बहुत बढ़ जाता है।

अपनी त्रुटि, बेढंगेपन, धृष्टता इत्यादि का परिचय दूसरों को—विशेषतः पुरुषों को—न मिले, इसका ध्यान स्त्रियों में बहुत अधिक और स्वाभाविक होता है; इसी से उनमें लज्जा अधिक देखी जाती है। वे सदा से पुरुषों के आश्रय में रहती आई हैं इससे हम धृष्ट या अप्रिय न लगें, इसकी आशंका उनमें चिरस्थायिनी होकर लज्जा के रूप में हो गई है। बहुत-सी स्त्रियाँ ऐसी होती हैं—विशेषतः बड़े घरों की—जिनकी काम-धन्धे के रूप में भी लोगों के सामने हाथ-पैर हिलाने की धड़क नहीं खुली रहती, अतः उनका अधिक लज्जाशील होना ठीक ही है। लोग लज्जा को स्त्रियों का भूषण कह-कहकर उनमें धृष्टता के दूषण से बचने का ध्यान और भी पक्का करते रहे धीरे-धीरे उनके रूप-रंग के समान उनकी लज्जा भी पुरुषों के आनन्द और विलास की एक सामग्री हुई। रस-कोविद लोग मुग्धा और मध्या की लज्जा का वर्णन कान में डालकर रसिकों को आनन्द से उन्मत्त करने लगे।

9

राष्ट्रोन्नति में जातीय गर्व की महत्ता

गुलाबराय

> विकास की आस भरा नवेन्दु सा,
> हरा-भरा कोमल पुष्प-माल सा।
> प्रमोद-दाता विमल प्रभात सा,
> स्वतन्त्रता का शुचि पर्व आ लसा॥

पन्द्रह अगस्त का शुभ दिन भारत के राजनीतिक इतिहास में सबसे अधिक महत्त्व का है। आज ही हमारी सघन कलुष-कालिमामयी दासता की लौह-शृंखलाएँ टूटी थीं। आज ही स्वतन्त्रता के नवोज्ज्वल प्रभात के दर्शन हुए थे। आज दिल्ली के लाल किले पर पहली बार यूनियन जैक के स्थान में सत्य और अहिंसा का प्रतीक तिरंगा झण्डा स्वतन्त्रता की हवा के झोकों से लहराया था। आज ही हमारे नेताओं के चिरसंचित स्वप्न चरितार्थ हुए थे। आज ही युगों की परतन्त्रता के पश्चात् शंख-ध्वनि के साथ जयघोष और पूर्ण स्वतन्त्रता का उद्‌घोष हुआ था।

हमारी उदासीनता—इतने महत्त्व और हर्षोल्लास के पुण्य पर्व पर हमारा सबसे पहला कर्तव्य तो यही है कि हम अपने खोये हुए स्वाभिमान की पुनःप्राप्ति पर हर्ष मनायें और अपने में स्वतन्त्रता के उत्तरदायित्व की नवचेतना जाग्रत करें। किन्तु हम अपने वैयक्तिक स्वार्थों में इतने जकड़े हुए हैं, अपने आर्थिक अभावों (जिनमें कुछ कल्पित भी हैं) की चेतना से इतने आक्रान्त हैं और दलबन्दी के दल-दल में इतने फँसे हुए हैं कि हम नैराश्य और विरक्ति के साथ कह बैठते हैं जिसके लिए आया होगा, उसके लिए आया होगा, हमारे लिए तो वही अभावों से भरा जीवन है। हम आपके अभावों की महत्ता को कम नहीं करना चाहते, हम आपके साथ यह भी कहने को तैयार हैं कि 'भूखे भजन न होई गोपाला', किन्तु हम नम्र निवेदन करना चाहते हैं कि रोटी के बिना जीवन-निर्वाह नहीं होता, यह तो ठीक है, किन्तु मनुष्य केवल रोटी पर नहीं जीता, उसमें स्वाभिमान भी होता है। वैयक्तिक स्वाभिमान

से भी जातीय स्वाभिमान अधिक महत्त्व रखता है—'सब ते अधिक जाति अपमाना'—किन्तु हमने उस जातीय स्वाभिमान की परवाह नहीं की। हममें राष्ट्रीयता की वह सामूहिक चेतना नहीं, जो स्वराज्य में पहले थी। हमने अपना तादात्म्य भारत की आत्मा से नहीं किया है।' 'सरकार चाहे जिस दल की हो, भारत अपना है' यह चेतना सामूहिक रूप से न हमारे बड़े-बूढ़ों में आयी है और न विद्यार्थियों में। हम समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि को अधिक महत्त्व देते हैं। भारत के गौरव को हम अपना गौरव नहीं समझते हैं। 'मानो हि महतां धनम्' की बात को हम भूल गये हैं और याद भी है तो वैयक्तिक मान के सम्बन्ध में।

हमारे कवियों ने अभावों की ओर अधिक ध्यान दिया है। स्वतन्त्र भारत के विस्तारोन्मुख क्षितिज को देखकर जो हृदय की मुक्तावस्था आनी चाहिए, वह उनमें बहुत कम मात्रा में आयी है। जातीय चेतना जो स्वराज्य से पहले थी, उसमें वृद्धि होने की अपेक्षा मूल में ह्रास दिखाई देता है। स्वतन्त्रता का पर्व आता है और चला जाता है, एक रस्म सी अदा हो जाती है। हमने अपने वैयक्तिक अभावों के कारण उसका मूल्य नहीं पहचाना है। हम उसका मूल्य स्वार्थसिद्धि की भाषा में आंकते हैं। कुछ लोग सामूहिक कष्टों से भी अवश्य दुःखी हैं। ऐसी बात नहीं कि सब लोग वैयक्तिक अभावों से ही पीड़ित हों, किन्तु अन्धकार के साथ कुछ शुभ्र और उज्ज्वल रेखाएँ भी हैं। उनकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता है। बुराई की ओर हमारा ध्यान अधिक दौड़ता है। नयी योजनाएँ चरितार्थ हो रही हैं। उनमें चाहे अपव्यय हुआ हो, किन्तु सब धोका ही धोका नहीं। ऐसा कहना हजारों लोगों के परिश्रम और बलिदान पर पानी फेर देना होगा। भाखरा-नांगल बाँध केवल मायाजाल नहीं है। अन्न के अभाव के लिए सरकार की खूब बुराई हुई, किन्तु उसके दूर होने की स्थिति निकट आने पर भी किसी ने साधुवाद के दो शब्द भी नहीं कहे। क्या यह सब सब्जबाग है? तेनसिंह द्वारा एवरेस्ट विजय पर हममें एवं विद्यार्थियों में वह उल्लास नहीं आया जो आना चाहिए और न साहसी कार्यों के लिए उससे इतनी प्रेरणा मिली जितनी मिलनी चाहिए थी। हमारे कवि भी कुछ उदासीन से रहे। विदेशी राजनीति की गतिविधि में जो भारत का हाथ है, उस पर हम गर्व नहीं करते। हिन्द-चीन की विराम सन्धि के निरीक्षण आयोग में भारत को जो अध्यक्षता मिली, उससे हम वीतरागी वेदान्तियों की भाँति अविचलित हैं; हर्षोल्लास की रेखा हमारे मुख पर नहीं। विदेशी बस्तियों पर वहाँ के निवासियों के अतिरिक्त इतना जन-क्षोभ नहीं प्रकट हुआ, जितना होना चाहिए। शिक्षा और विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान हो रहे हैं। अणुशक्ति से भी हम लाभ उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन नवीन सम्भावनाओं से हमारे युवकों का मन प्रभावित नहीं होता।

अभावों के अस्तित्व में भी पर्व की खुशी—देश में अभाव हैं, असमानताएँ भी हैं, उनको भुलाया नहीं जा सकता, किन्तु हमको यह भी नहीं भूलना चाहिए

कि दुनियाँ इतनी सम्पन्न नहीं है कि सब के अभावों की समान रूप से पूर्ति हो सके। बेकारी अवश्य है, किन्तु बेकारी गोस्वामी तुलसीदासजी के समय में भी थी—

खेती न किसान को भिखारी को न भीख,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाई, का करी?'

किन्तु यह हमारे लिए कोई सन्तोष की बात नहीं और यह हमारी अकर्मण्यता के लिए बहाना बनना चाहिए। इन अभावों के होते हुए भी जहाँ हम होली-दिवाली और ईद मना सकते हैं, वहाँ इस राजनीतिक पर्व को भी हर्षोल्लास से मना सकते हैं।

पर्व पर हर्षोल्लास से जातीय लाभ—राष्ट्रीय पर्व का मनाना कोरी भावुकता नहीं है। इस भावुकता का मूल्य है। भावुकता में संक्रामकता होती है; संक्रामकता से वस्तु जनता की हो जाती है और फिर वह शक्ति का संचार करती है। विचार हमारी दशा का निर्देशन कर सकते हैं, किन्तु कार्य-सम्पादन की प्रबल प्रेरणा और शक्ति भावों में ही निहित रहती है। भाव भी जब तक वैयक्तिक रहते हैं, तब तक 'एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता' की बात सार्थक करते हैं। 'एकला चलो रे' की वात बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, कबीर, नानक, रवीन्द्र और गाँधी के लिए ठीक हो सकती है। वे अकेले चल पड़ते हैं और लोग उनके पीछे चलते हैं, किन्तु बिना पीछे चलने वालों के उनकी वाणी भी बल नहीं पकड़ती। इस जन-रस और जन-शक्ति को उत्पन्न करने के लिए इन राष्ट्रीय पर्वों को मानना आवश्यक है। इनसे हमारे कार्यों में एक-ध्येयता आती है और वे गति पकड़ते हैं। हमारी बहुत-सी योजनाओं में जो बल नहीं आने पाता, वह इस जातीय गर्व की भावना के कारण है। भ्रष्टाचार पर हम विजय नहीं पा सके हैं, इसके मूल में भी जातीय गर्व का अभाव है। हमारे बहुत-से उच्चाधिकारी भी राज-मद में उन्मत्त हो गये हैं, यह जातीय गर्व के अभाव के कारण ही है 'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं' की लोकोक्ति उन्हीं के लिए हैं, जिनमें जातीय गौरव और देशहित की भावना की कमी है। जातीय गर्व का अभाव वैयक्तिकता का पोषण करता है। ऐसे समय में जब विदेशी बस्तियों की उन्मुक्ति का प्रश्न है, अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व हमारे कन्धों पर आ गया है, देश के डूबने और बचाने का सवाल है, जब चारों ओर से आलोचना के तीक्ष्ण वाण चल रहे हैं, इस जातीय गर्व की विशेष आवश्यकता है। कोरा जातीय गर्व काम न देगा। उसके भीतर सच्ची भावना होनी चाहिए, जिससे हम उसको सार्थक करने के लिए अपना चरित्र ढाल सकें। राष्ट्रीय चरित्र के उत्थान के बिना भ्रष्टाचार और अत्याचार, दम्भ और धोखेबाजी दूर न होगी।

हमारा उत्तरदायित्व—इस जातीय गर्व के साथ हमारे कन्धों पर तदनुरूप

चरित्र-निर्माण का बोझ तो आ ही जाता है, किन्तु उसी से हम पर अपने को ज्ञान-सम्पन्न और शक्ति-सम्पन्न बनाने का भी उत्तरदायित्व आ जाता है। देश की गति-विधि से हम अनभिज्ञ रहते हैं। इसमें सरकार का भी दोष है। उसका प्रचार-विभाग भी जातीय गर्व से प्रेरित न होकर कोरी खानापूरी करता है। उसको चाहिए कि जनता के सम्पर्क में आये। आलोचनाओं के आधारभूत सत्य की खोज करे। समस्याओं के अध्ययन में विशेषकर विद्यार्थियों को कोरी भावुकता से काम न लेना चाहिए। उनको निर्भय तर्क द्वारा पक्ष-विपक्ष की युक्तियों की छानबीन द्वारा पूर्ण निश्चय कर निर्भीकतापूर्वक अपना मत प्रकट करना चाहिए।

हमको चाहिए कि हम अपने हृदय को दूसरों की सफलता पर गर्व से स्पन्दित और दूसरों की विफलता पर सहानुभूति से आन्दोलित करने में सहायक हों। राष्ट्र के किसी भी क्षेत्र में किसी व्यक्ति की सफलता को अपनी सफलता और किसी व्यक्ति की विफलता को अपनी विफलता समझें। गीता के कर्मयोग में बतलाया गया है कि जो कुछ हम कर्म करें, उसको कृष्णार्पणमस्तु की भावना से करें। हमको अपने काम देश के गौरवहिताय करने चाहिए। हमें सोचना चाहिए कि हमारा अच्छा काम देश के गौरव को बढ़ायेगा और हमारा बुरा काम देश का मस्तक नीचा करेगा। हमको अपने रहन-सहन के भीतरी और बाहरी दोनों स्तरों को ऊँचा करना चाहिए। सरकार पंचवर्षीय योजना में देश के बाहरी रहन-सहन को ऊँचा करने का उद्योग कर रही है। चारित्रिक स्तर को ऊँचा करने की भी उतनी ही आवश्यकता है।

हम देश को सम्पन्न और शक्तिशाली बनने में योग दें। अपने लड़के-बच्चों को ऐसे उद्योग-धन्धे सिखायें, जिनसे नवनिर्माण में सहायता पहुँचे। उनके जीविकोपार्जन में राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखें। हम अपने रहन-सहन को ही ऊँचा न करें, बल्कि दूसरों के रहन-सहन के ऊँचे होने में भी सहायक बनें। दूसरों के साथ प्रेम-व्यवहार से उनके हीनता-भाव को दूर करें। यदि हम सरकारी अफसर हैं तो हम शक्ति के आतंक से नहीं, वरन् प्रेम और सेवाभाव से, जनता को आकर्षित करें। सच्ची सेवा चुनाव के अवसरों पर वोट-भिक्षा के परिश्रम और अपव्यय को भी बचाती है। हम अपने रहन-सहन तथा अपने घरों और नगरों को सुन्दर बनाकर भारत को गर्व की वस्तु बनायें।

हम आलोचना करने से पूर्व समस्याओं का अध्ययन करने का प्रयत्न करें और उनको हल करने में भी योग दें। देश की समस्याओं को अपनी समस्या समझें और उनके लिए अपना उत्तरदायित्व अनुभव करें।

जातीय गर्व के बाधक—जातीय गर्व के बाधक कुछ कारण तो जनता पर आश्रित हैं और कुछ सरकार पर। प्रायः वैयक्तिकता का आधिक्य, प्रान्तीय भावना, साम्प्रदायिकता और दलद्वन्दीय जातीय गर्व में बाधक होते हैं। लोग देश और जाति की अपेक्षा सम्प्रदाय और प्रान्त को अधिक महत्त्व देते हैं। यह संकुचित भावना है।

राष्ट्र सबका है। सब प्रान्तों, सब दलों और सब सम्प्रदायों को, एक नियमित सीमा तक, पूर्ण स्वतन्त्रता की आड़ में राष्ट्र के गौरव की उपेक्षा करना उसका दुरुपयोग है। राष्ट्र अंगी है; व्यक्ति, दल, प्रान्त और सम्प्रदाय अंग हैं। अंग का हित अंगी की रक्षा में है। व्यक्ति, दल, प्रान्त और सम्प्रदाय की रक्षा राष्ट्र की रक्षा पर निर्भर है। इसलिए राष्ट्र की उपेक्षा अनुचित और घातक है।

सरकार का उत्तरदायित्व—जहाँ जनता का इतना कर्त्तव्य है, वहाँ सरकार का भी इतना कर्त्तव्य है कि वह असन्तोष के कारणों का विधिवत् अध्ययन करे और सत्य को ग्रहण करे, उसमें हठधर्मी को स्थान न दे। आवश्यक वैभव प्रदर्शन की आड़ में अपव्यय को न होने दे। जब सरकारी कामों में अपव्यय होता है, तब नीचे के अफसरों को भी भ्रष्टाचार के लिए प्रोत्साहन मिलता है। सरकारी अधिकारियों में सच्ची सेवा-भावना जाग्रत की जाय, जिससे वे वास्तव में जनता के सेवक कहे जाने के अधिकारी बनें।

सरकार दूसरे दलों से भी इतनी उदारता का व्यवहार करे कि उनको भी यह अनुभव होने दे कि सरकार उनकी है। उनकी आलोचना से लाभ उठाये और उनके परामर्श को उचित मान दे। राज्यों की समृद्धि और स्वतन्त्रता का सरकार उतना ही ध्यान रखे, जितना कि केन्द्र की उन्नति का।

जनता और सरकार का सहयोग—जातीय गर्व की रक्षा का भार सरकार और जनता दोनों के ऊपर है। दोनों के सहयोग में ही जाति का कल्याण है। जहाँ जनता का कर्त्तव्य है कि वह सरकार और देश पर गर्व और राष्ट्रीय पर्वों में हर्षोल्लास प्रकट करे, वहाँ सरकार का भी कर्त्तव्य है कि वह सच्चे अर्थ में जनता की सरकार और उसके गर्व की वस्तु बनने की अधिकारिणी बने। स्वस्थ लोकमत की वह उपेक्षा न करे और जनसम्पर्क के प्रति अधिक से अधिक उत्तरदायी बने। सरकार की मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा की रक्षा सरकार के अधिकारियों के हाथ में है। वे स्वार्थवश ऐसा काम न करें, जिससे जातीय गर्व को हानि पहुँचे। वे सरकार की प्रतिष्ठा के लिए अपनी सुख-सुविधाओं और मान-प्रतिष्ठा का त्याग कर समाज के सच्चे सेवक बनें। राजकीय सत्ता के अधिकार से शासन करें, जिसमें शासित को शासन का भार न अखरे और उनके बीच की खाई कम हो।

10
कुटज

हजारीप्रसाद द्विवेदी

कहते हैं, पर्वत शोभा निकेतन होते हैं। फिर हिमालय का तो कहना ही क्या! पूर्व और अपर समुद्र—महोदधि और रत्नाकार—दोनों भुजाओं से थाहता हुआ हिमालय 'पृथ्वी का मानदण्ड' कहा जाय तो गलत क्या है? कालिदास ने ऐसा ही कहा था। इसी के पाद-देश में यह जो श्रृंखला दूर तक लेटी हुई है लोग इसे 'शिवालिक' श्रृंखला कहते हैं। 'शिवालिक' का क्या अर्थ है। 'शिवालिक' या शिव के जटाजूट का निचला हिस्सा तो नहीं है? लगता तो ऐसा ही है। शिव की लटियाई जटा ही इतनी सूखी, नीरस और कठोर हो सकती है। वैसे, अलकनन्दा का स्रोत यहाँ से काफी दूरी पर है, लेकिन शिव का अलक तो दूर-दूर तक छितराया ही रहता होगा। सम्पूर्ण हिमालय को देखकर ही किसी के मन में समाधिस्थ महादेव की मूर्ति स्पष्ट हुई होगी। उसी समाधिस्थ महादेव के अलक-जाल के निचले हिस्से का प्रतिनिधित्व यह गिरि-श्रृंखला कर रही होगी। कहीं-कहीं अज्ञात-नाम-गोत्र झाड़-झंखाड़ और बेहया-से पेड़ खड़े दिख अवश्य जाते हैं, पर और कोई हरियाली नहीं। दूब तक सूख गयी है। काली-काली चट्टानें और बीच-बीच में शुष्कता को अन्तर्निरुद्ध सत्ता का इजहार करने वाली रक्ताभ रेती। रस कहाँ है? ये जो ठिगने से लेकर शानदार दरख्त गर्मी की भयंकर मार खा-खाकर और भूख प्यास की निरन्तर चोट सह-सह कर भी जी रहे हैं, इन्हें क्या कहूँ? सिर्फ जी ही नहीं रहे हैं, हँस भी रहे हैं बेहया हैं क्या? या मस्तमौला हैं? कभी-कभी जो लोग ऊपर से बेहया दिखते हैं उनकी जड़ें काफी गहरे पैठी रहती हैं। ये भी पाषाण की छाती फाड़कर न जाने किस अतल गह्वर से अपना भोग्य खींच लाते हैं।

शिवालिक की सूखी नीरस पहाड़ियों पर मुस्कराते हुए ये वृक्ष द्वन्द्वातीत हैं, अलमस्त हैं। मैं किसी का नाम नहीं जानता, कुछ नहीं जानता, शील नहीं जानता पर लगता है ये जैसे मुझे अनादि काल से जानते हैं। इन्हीं में एक छोटा सा—

बहुत ही ठिगँना—पड़े है, पत्ते चौड़े भी हैं, बड़े भी हैं। फूलों से तो ऐसा लदा है कि कुछ पूछिए नहीं। अजीब-सी अदा है, मुस्कुराता जान पड़ता है। लगता है पूछ रहा है कि क्या तुम मुझे भी नहीं पहचानते ? पहचानता तो हूँ; अवश्य पहचानता हूँ। लगता है, बहुत बार देख चुका हूँ। पहचानता हूँ उजाड़ के साथी, तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ। नाम भूल रहा है। प्रायः भूल जाता हूँ। रूप देखकर प्रायः पहचान जाता हूँ, नाम नहीं याद आता। पर नाम ऐसा है कि जब तक रूप के पहले ही हाजिर न हो जाय तब तक रूप की पहचान अधूरी रह जाती है। भारतीय पण्डितों का सैकड़ों बार का कचारा मिचौड़ा प्रश्न सामने आ गया—रूप मुख्य है या नाम ? नाम बड़ा है या रूप ? पद पहले है या पदार्थ ? पदार्थ सामने है, पद नहीं सूझ रहा है। मन व्याकुल हो गया, स्मृतियों के पंख फैलाकर सुदूर अतीत के कोनों में झाँकता रहा। सोचता हूँ इसमें व्याकुल होने की क्या बात है ? नाम में क्या रखा है, ह्वाट्स देअर इन ऐ नेम। नाम की जरूरत ही हो तो सौ दिये जा सकते हैं। सुस्मिता, गिरिकान्ता, वनप्रभा, शुभ्र-किरीटिनी, मंदोद्धता, विजितातप, अलकावतसा बहुत-से नाम हैं। या फिर पौरुष व्यंजक नाम भी दिये जा सकते हैं........ अकुतोभय, गिरि-गौरव, कूटोल्लास, अपराजित, धरतीधकेल, पहाड़फोड़, पातालभेद। पर मन नहीं मानता। नाम इसलिए बड़ा नहीं है कि वह नाम है। वह इसलिए बड़ा होता है कि उसे सामाजिक स्वीकृति मिली होती है। रूप व्यक्ति सत्य है, नाम समाज सत्य। नाम उस पद को कहते हैं जिस पर समाज की मुहर लगी होती है, आधुनिक शिक्षित लोग, जिसे सोशल सैक्शन कहा करते हैं। मेरा मन नाम के लिए व्याकुल है, समाज द्वारा स्वीकृति, इतिहास द्वारा प्रमाणित, समष्टि मानव को चित्त गंगा में स्नात !

इस गिरिकूट बिहारी का काम क्या है ? मन दूर-दूर तक उड़ रहा है—देश में और काल में—**मनोरथानामगतिर्नविद्यते** ! अचानक याद आया—अरे यह तो कुटज है ! संस्कृत साहित्य का बहुत परिचित किन्तु कवियों द्वारा अवमानित यह छोटा-सा शानदार वृक्ष 'कुटज' है। 'कूटज' कहा गया होता तो कदाचित ज्यादा अच्छा होता। पर नाम इसका चाहे कूटज ही हो, विरुद तो निस्सन्देह 'कुटज' होगा। गिरिकूट पर उत्पन्न होने वाले इस वृक्ष को 'कुटज' कहने में विशेष आनन्द मिलता है। बहरहाल यह कूटज-कुटज है। मनोहर कुसुम स्तबकों से झबराया, उल्लास लोल चारुस्मित कुटज ! जी भर आया। कालिदास ने **आषाढस्य प्रथम दिवसे** रामगिरि पर यक्ष को जब मेघ की सभ्यर्थना के लिए नियोजित किया तो कम्बख्त को ताजे कुटज पुष्पों की अंजलि देकर ही संतोष करना पड़ा—चंपक नहीं, बकुल नहीं, नीलोत्पल नहीं, मल्लिका नहीं, अरविन्द नहीं,—फकत कुटज के फूल ! यह और बात है कि आज आषाढ़ का नहीं, जुलाई का पहला दिन है। मगर फर्क भी कितना है। बार-बार मन विश्वास करने को उतारू हो जाता है कि यक्ष बहाना मात्र है। कालिदास ही कभी **'शापेनास्तग मतमहिमा'** होकर रामगिरि पहुँचे थे अपने ही हाथों

इस कुटज पुष्प का अर्घ्य देकर उन्होंने मेघ की अभ्यर्थना की थी। शिवालिक की इस अनत्युच्च पर्वत शृंखला की भाँति रामगिरि पर भी उस समय और कोई फूल नहीं मिला होगा। कुटज ने उनके संतप्त चित्त को सहारा दिया था—बड़भागी फूल है यह। धन्य हो कुटज, तुम 'गाढ़े के साथी' हो। उत्तर की ओर सिर उठाकर देखता हूँ, सुदूर तक ऊँची काली पर्वत-शृंखला छायी हुई है और एकाध सफेद बादल के बच्चे उससे लिपटे खेल रहे हैं। मैं भी इन पुष्पों का अर्घ्य उन्हें चढ़ा दूँ? पर काहे वास्ते? लेकिन बुरा भी क्या है?

कुटज के ये सुन्दर फल बहुत बुरे तो नहीं हैं। जो कालिदास के काम आया हो उसे ज्यादा इज्जत मिलनी चाहिए। मिली कम है। पर इज्जत तो नसीब की बात है। रहीम को मैं बड़े इज्जत के साथ स्मरण करता हूँ। दरियादिल आदमी थे, पाया सा लुटाया। लेकिन दुनिया है कि मतलब से मतलब है, रस चूस लेती है, छिल्का और गुठली फेंक देती है। सुना है, रस चूस लेने के बाद रहीम को भी फेंक दिया गया था। एक बादशाह ने आदर के साथ बुलाया, दूसरे ने फेंक दिया! हुआ ही करता है। इससे रहीम का मोल घट नहीं जाता। उनकी फक्कड़ाना मस्ती कहीं गयी नहीं। अच्छे भले कद्रदान थे। लेकिन बड़े लोगों पर भी कभी-कभी ऐसी वितृष्णा सवार होती है कि गलती कर बैठते हैं। मन खराब रहा होगा, लोगों की बेरुखी और बेकद्रदानी से मुरझा गये होंगे—ऐसी ही मनःस्थिति में उन्होंने बिचारे कुटज को भी एक चपत लगा दी। झुंझलाये थे, कह दिया—

वे रहीम अब बिरह कहँ, जिनकर छांह गँभीर;
बागन बिच-बिच देखियत, सँहुड़ कुटज करीर।

गोया कुटज अदना-सा 'बिरछ' हो। 'छांह' ही क्या बड़ी बात है, फूल क्या कुछ भी नहीं? छाया के लिए न सही, फूल के लिए तो कुछ सम्मान होना चाहिए। मगर कभी-कभी कवियों का भी 'मूड' खराब हो जाया करता है वे भी गलतबयानी के शिकार हो जाया करते हैं। फिर बागों से गिरिकूट-बिहारी कुटज की क्या तुक है।

कुटज अर्थात् जो कुट से पैदा हुआ हो। 'कुट' घड़े को भी कहते हैं, घर को भी कहते हैं। कुट अर्थात् घड़े से उत्पन्न होने के कारण प्रतापी अगस्त्य मुनी भी 'कुटज' कहे जाते हैं। घड़े से तो क्या उत्पन्न हुए होंगे। कोई और बात होगी। संस्कृत में 'कुटहारिका' और 'कुटकारिका' दासी को कहते हैं। क्यों कहते हैं? 'कुटिप' या 'कुटीर' शब्द भी कदाचित् इसी शब्द से सम्बद्ध हैं। क्या इस शब्द का अर्थ घर ही है? घर में काम-काज करने वाली दासी कुटकारिका और कुटहारिका कही ही जा सकती है। एक जरा गलत ढंग की दासी 'कुटनी' भी कही जाती है। संस्कृत में उसकी गलतियों को थोड़ा अधिक मुखर बनाने के लिए उसे 'कुट्टनी' कह

दिया गया है। अगस्त्य मुनि भी नारद जी की तरह दासी के पुत्र थे क्या ? घड़े में पैदा होने का तो कोई तुक नहीं है, न मुनि कुटज के सिलसिले में, न फूल कुटज के। फूल गमले में होते अवश्य हैं पर कुटज तो जंगल का सैलानी है। उसे घोड़े या गमले से क्या लेना देना। शब्द विचारोत्तेजक अवश्य है। कहाँ से आया ? मुझे तो इसी में सन्देह है कि यह आर्य भाषाओं का शब्द है भी या नहीं। एक भाषाशास्त्री किसी संस्कृत शब्द को एक से अधिक रूप में प्रचलित पाते थे तो तुरन्त उसकी कुलीनता पर शक कर बैठते थे। संस्कृत में 'कुटज' रूप भी मिलता है और 'कुटच' भी। मिलने को तो 'कूटज' भी मिल जाता है। तो यह शब्द किस जाति का है ? आर्य जाति का तो नहीं जान पड़ता। सिलवाँ लेवी कह गये हैं कि संस्कृत भाषा में फूलों, वृक्षों और खेती-बागवानी के अधिकांश शब्द आग्नेय भाषा परिवार के हैं। यह भी वहीं का तो नहीं है। एक जमाना था जब आस्ट्रेलिया और एशिया के महाद्वीप मिले हुए थे, फिर कोई भयंकर प्राकृतिक विस्फोट हुआ और ये दोनों अलग हो गये। उन्नीसवीं शताब्दी के भाषा विज्ञानी पण्डितों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आस्ट्रेलिया के सुदूर जंगलों में बसी जातियों की भाषा एशिया में बसी हुई कुछ जातियों की भाषा से सम्बद्ध है। भारत की अनेक जातियाँ वह भाषा बोलती हैं जिनमें संथाल, मुंडा आदि भी शामिल हैं। शुरू-शुरू में इस भाषा का नाम आस्ट्रो एशियाटिक दिया गया था। दक्षिण-पूर्व या अग्निकोण की भाषा होने के कारण इसे आग्नेय परिवार भी कहा जाने लगा है। अब हम लोग भारतीय जनता के वर्ग-विशेष को ध्यान में रखकर पुराने साहित्य का स्मरण करके इसे लोक-परिवार की भाषा कहने लगे हैं। पंडितों ने बताया है कि संस्कृत भाषा के अनेक शब्द, जो अब भारतीय संस्कृति के अविच्छेद्य अंग बन गये हैं, इसी श्रेणी की भाषा के हैं। कमल, कुड्मल, कंबु, कंबल ताम्बूल आदि शब्द ऐसे ही बताये जाते हैं। पेड़-पौधों, खेतों के उपकरणों और औजारों के नाम भी ऐसे ही हैं। कुटज भी हो तो क्या आश्चर्य ? संस्कृत भाषा ने शब्दों के संग्रह में कभी छूत नहीं मानी। न जाने किस-किस नस्ल के कितने शब्द उसमें आकर अपने बन गए हैं। पण्डित लोग उसकी छान-बीन करके हैरान होते हैं। संस्कृत सर्वग्रासी भाषा है।

यह जो मेरे सामने कुटज का लहराता पौधा खड़ा है यह नाम और रूप दोनों में अपनी अपराजेय जीवनी-शक्ति की घोषणा कर रहा है। इसलिए यह इतना आकर्षक है। नाम है कि हजारों वर्ष से जीता चला आ रहा है। कितने नाम आये और गये। दुनिया उसको भूल गयी, वे दुनिया को भूल गये। मगर कुटज है कि संस्कृत की निरन्तर स्फीयमान शब्दराशि में जो जम के बैठा सो बैठा ही है। और रूप की तो बात ही क्या है। बलिहारी है इस मादक शोभा की। चारों ओर कुपित यमराज के दारुण निःश्वास के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पाषाण की कारा में रुद्ध अज्ञात जलस्रोत बरबस रस

खींचकर सरस बना हुआ है और मूर्ख के मस्तिष्क से भी अधिक सूने गिरि कांतार में भी ऐसा मस्त बना है कि ईर्ष्या होती है। कितनी कठिन जीवनी-शक्ति है। प्राण ही प्राण को पुलकित करता है, जीवनी-शक्ति ही जीवनी-शक्ति को प्रेरणा देती है। दूर पर्वतराज हिमालय की हिमाच्छादित चोटियाँ हैं, वहीं कहीं भगवान् महादेव समाधि लगाकर बैठे होंगे, नीचे सपाट पथरीली जमीन का मैदान है, कहीं-कहीं पर्वतनन्दिनी सरिताएँ आगे बढ़ने का रास्ता खोज रही होंगी—बीच में यह चट्टानों की ऊबड़-खाबड़ जटाभूमि है—सूखी, नीरस, कठोर—यहीं आसन मारकर बैठे हैं मेरे चिर परिचित दोस्त कुटज एक बार अपने झबरीले मूर्धा को हिलाकर समाधिनिष्ठ महादेव को पुष्पस्तबक का उपहार चढ़ा देते हैं और एक बार नीचे की ओर अपनी पाताल-भेदी जड़ों को दबा कर गिरिनन्दिनी सरिताओं को संकेत से बता देते हैं कि रस का स्रोत कहाँ है। जीना चाहते हो? कठोर पाषाण को भेदकर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो; वायु-मंडल को चूसकर, झंझातूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो, आकाश को चूमकर, अवकाश की लहरों में झूमकर उल्लास खींच लो। कुटज का यही उपदेश है।

भित्त्वा पाषाणपिठर छित्त्वा प्राभञ्जनीं व्यथाम्
पीत्वा पातालपानीय कुटजश्चुम्बते नमः!

दुरन्त जीवन-शक्ति है! कठिन उपदेश है जीना भी एक कला है। लेकिन कला ही नहीं, तपस्या है। जियो तो प्राण ढाल दो जिन्दगी में, मन ढाल दो जीवन रस के उपकरणों में! ठीक है। लेकिन क्यों! क्या जीने के लिए जीना ही बड़ी बात है? सारा संसार अपने मतलब के लिए ही तो जी रहा है। याज्ञवल्क्य बहुत बड़े ब्रह्मवादी ऋषि थे। उन्होंने अपनी पत्नी को विचित्र भाव से समझाने की कोशिश की कि सब कुछ स्वार्थ के लिए है। पुत्र के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, पत्नी के लिए पत्नी प्रिया नहीं होती—सब अपने मतलब के लिए प्रिय होते हैं—आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति! विचित्र नहीं है यह तर्क? संसार में जहाँ कहीं प्रेम है सब मतलब के लिए। सुना है पश्चिम में हॉब्स और हेल्वेशियस जैसे विचारकों ने भी ऐसी ही बात कही है। सुन के हैरानी होती है। दुनिया में त्याग नहीं है, प्रेम नहीं है, परार्थ नहीं है, परमार्थ नहीं है—है केवल प्रचण्ड स्वार्थ। भीतर की जिजीविषा—जीते रहने की प्रचण्ड इच्छा—ही अगर बड़ी बात हो तो फिर यही सारी बड़ी-बड़ी बोलियाँ, जिनके बल पर दल बनाये जाते हैं, शत्रुमर्दन का अभिनय किया जाता है देशोद्धार का नारा लगाया जाता है, साहित्य और कला की महिमा गायी जाती है, झूठ हैं। इनके द्वारा कोई न कोई अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध करता है। लेकिन अन्तरतर से कोई कह रहा है, ऐसा सोचना गलत ढंग से सोचना है। स्वार्थ से भी बड़ी कोई-न-कोई बात अवश्य है, जिजीविषा से भी प्रचण्ड कोई-न-कोई अवश्य है। क्या है?

याज्ञवल्क्य ने जो बात धक्कामार ढंग से कह दी थी वह अन्तिम नहीं थी।

वे 'आत्मनः' का अर्थ कुछ और बड़ा करना चाहते थे। व्यक्ति का 'आत्मा' केवल व्यक्ति तक सीमित नहीं है, वह व्यापक है। अपने में सब और सब में आप—इस प्रकार की एक समष्टि-बुद्धि जब तक नहीं आती तब तक पूर्ण सुख का आनन्द भी नहीं मिलता। अपने आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर जब तक 'सर्व' के लिए निछावर नहीं कर दिया जाता जब तक 'स्वार्थ' खंड-सत्य है, वह मोह को बढ़ावा देता है, तृष्णा को उत्पन्न करता है और मनुष्य को दयनीय—कृपण—बना देता है। कार्पण्य दोष से जिसका स्वभाव उपहृत हो गया है उसकी दृष्टि म्लान हो जाती है, वह स्पष्ट नहीं देख पाता। वह स्वार्थ भी नहीं समझ पाता, परमार्थ तो दूर की बात है।

कुटज क्या केवल जी रहा है। वह दूसरे द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अवमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता, आत्मोन्नति के हेतु नीलम नहीं धारण करता, अँगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगलें नहीं झाँकता। जीता है और शान से जीता है—काहे वास्ते, किस उद्देश्य से। कोई नहीं जानता। अगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है। भीष्म पितामह की भाँति अवधूत की भाषा में कह रहा है—'चाहे सुख हो या दुःख, प्रिय हो या अप्रिय, जो मिल जाय उसे शान के साथ, हृदय से बिलकुल अपराजित होकर, सोल्लास ग्रहण करो। हार मत मानो।'

सुखं वा यदि वा दुःख प्रियं वा यदि वाऽप्रियन्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः॥

—शान्ति पर्व 25/26

हृदयेनापराजितः! कितना विशाल वह हृदय होगा जो सुख से दुःख से अप्रिय से विचलित न होता होगा। कुटज को देखकर रोमांच हो आता है। कहाँ से मिली है यह अकुतोभया वृत्ति, अपराजित स्वभाव, अविचल जीवन-दृष्टि!

जो समझता है कि वह दूसरों का उपकार कर रहा है वह अबोध है, जो समझता है कि दूसरा उसका उपकार कर रहा है वह भी बुद्धिमान है। कौन किसका उपकार करता है, कौन किसका अपकार कर रहा है? मनुष्य जी रहा है केवल जी रहा है, अपनी इच्छा से नहीं, इतिहास-विधाता की योजना के अनुसार। किसी को उससे सुख मिल जाय बहुत अच्छी बात है; नहीं मिल सका, कोई बात नहीं; परन्तु उसे अभिमान नहीं होना चाहिए। सुख पहुँचाने का अभिमान यदि गलत है, तो दुःख पहुँचाने का अभिमान तो नितान्त गलत है।

दुःख और सुख तो मन के विकल्प हैं। सुखी वह है जिसका मन वश में है, दुःखी वह है जिसका मन परवश है। परवश होने का अर्थ है खुशामद करना, दाँत,

निपोरना, चाटुकारिता, हाँ-हजूरी । जिसका मन अपने वश में नहीं है वही दूसरे के मन का छंदावर्तन करता है, अपने को छिपाने के लिए मिथ्या आडम्बर करता है, दूसरों को फँसाने के लिए जाल बिछाता है । कुटज इन सब मिथ्याचारों से मुक्त है । वह वशी है । वह बैरागी है । राजा जनक की तरह संसार में रहकर; सम्पूर्ण भोगों को भोगकर भी उनसे मुक्त है । जनक की ही भाँति वह घोषणा करता है—मैं स्वार्थ के लिए अपने मन को सदा दूसरे के मन में घुसता नहीं फिरता, इसलिए मैं मन को जीत सका हूँ, उसे वश में कर सका हूँ—

नाहमात्मार्थमिच्छामि कनोनित्य मनोन्तरे ।
मनो मे निर्जितं तस्मात् वशे तिष्ठति सर्वदा ।।

कुटज अपने मन पर सवारी करता है, मन को अपने पर सवार नहीं होने देता । मनस्वी मित्र तुम धन्य हो !

11
अवशेष

रघुबीर सिंह

महान् मुगल सम्राट् अकबर का प्यारा नगर—आगरा—आज मृत-प्राय-सा हो रहा है। उसके ऊबड़-खाबड़ धूल भरे रास्तों और उन तंग गलियों में यह स्पष्ट देख पड़ता है कि किसी समय यह नगर भारत के उस विशाल समृद्धिपूर्ण साम्राज्य की राजधानी रहा था; किन्तु ज्यों-ज्यों उसका तत्कालीन नाम 'अकबराबाद' भूलता गया त्यों-त्यों उसकी वह समृद्धि भी विलीन होती गई। इस नगरी के वृद्ध क्षीण हृदय जुमा मस्जिद में अब भी जीवन के कुछ चिह्न देख पड़ते हैं, किन्तु इसका बहुत कुछ श्रेय मुस्लिम काल की उन मृतात्माओं को है, अपने अंचल में समेट कर भी विकराल मृत्यु जिनको मानव समाज के स्मृतिसंसार से सर्वदा के लिये निर्वासित नहीं कर सकी; काल क्रूर हाथों उनका नश्वर शरीर नष्ट हो गया, सब कुछ लोप हो गया, किन्तु स्मृतिलोक में आज भी उनका पूर्ण स्वरूप विद्यमान है।

मुगल साम्राज्य भंग हो गया किन्तु फिर भी उन दिनों की स्मृतियाँ आगरा के वायुमण्डल में रम रही हैं। जमीन में मीलों ऊँची हवा में आज भी ऐश्वर्य विलास की मादक सुगन्ध, भग्न प्रेम या मृत आदर्शों पर बहाये गये आँसुओं की वाष्प तथा उच्छ्वासों और उसासों में तप्त वायु फैला हुआ है। भग्न मानव प्रेम की वह समाधि; मुगल साम्राज्य के आहत यौवन का वह स्मारक, ताज, आज भी अपने आँसुओं से तथा अपनी आहों से आगरा के वायुमण्डल को वाष्पमय कर रहा है। आज भी उस चिरविरही प्रेमी आँसुओं का सोता यमुना नदी में जाकर अदृश्य रूप से मिलता है। ताज में दफनाये गये मुगल सम्राट् के तड़पते हुए युवा हृदय की धुकधुकाहट से यमुना के वक्ष:स्थल पर छोटी-छोटी तरंगें उठती हैं, और दूर-दूर तक उसके निश्वासों की मर-मर ध्वनि आज भी सुन पड़ती है। कठोर भाग्य के सम्मुख सुकोमल मानव हृदय की विवशता को देखकर यमुना भी हताश हो जाती है, ताज के पास पहुँचते-पहुँचते बल खा जाती है, उस समाधि को छूकर तो उसका हृदय द्रवीभूत हो जाता है, आँसुओं का प्रवाह उमड़ पड़ता है, वह सीधा बह निकलता है।

आगरे का वह उन्नत किला, अपने गत यौवन पर इतरा-इतरा कर रह जाता है। प्रातःकाल बाल सूर्य की आशामयी किरणें जब उस रक्तवर्ण किले पर गिरती हैं, तब वह चौंक उठता है। उस स्वर्ण-प्रभात में वह भूल जाता है कि अब उनके उन गौरवपूर्ण दिनों का अन्त हो गया है, और एक बार पुनः पूर्णतया कान्तियुक्त हो जाता है। किन्तु कुछ ही समय में उसका सुख-स्वप्न भंग हो जाता है, उसकी वह ज्योति और उसका वह सुखमय उल्लास, उदासी तथा निराशापूर्ण सुनसान वातावरण में परिणत हो जाते हैं। आशापूर्ण हर्ष से दमकते हुए उज्ज्वल रक्तवर्ण मुख पर पतन की स्मृति छाया फैलने लगती है। और दिवस भर के उत्थान के बाद संध्या समय अपने पतन पर क्षुब्ध मरीचिमाली जब प्रतीची के पादप पुंज में अपना मुख छिपाने को दौड़ पड़ते हैं और विदा होने से पूर्व अश्रुपूर्ण नेत्रों से उस अमर करुण कहानी की ओर एक निराशापूर्ण दृष्टि डालते हैं तब तक वह पुराना किला रो पड़ता है, और अपने लाल-लाल मुख पर, जहाँ आज भी सौन्दर्यपूर्ण विगत यौवन की झलक देख पड़ती है अन्धकार का काला घूँघट खींच लेता है।

वर्तमान कालीन दशा पर ज्यों ही आत्म-विस्मृति का पट गिरता है, अन्तः-चक्षु खुल जाते हैं और पुनः पुरानी स्मृतियाँ ताजी हो जाती हैं, उस पुराने रंगमंच पर पुनः उस विगत जीवन का नाटक देख पड़ता है। सुन्दर सुम्मन बुर्ज को एक बार फिर उस दिन की याद आ जाती है, जब दुःख और करुणापूर्ण वातावरण में मृत्यु-शय्या पर पड़ा कैदी शाहज़हाँ ताज को देख-देखकर उसासें भर रहा था, जहानआरा अपने सम्मुख निराशापूर्ण निस्संग करुण जीवन के भीषण तम को आते देखकर रो रही थी; जब उनके एकमात्र साथी, श्वेत पत्थरों तक के पाषाण हृदय पिघल गये थे और जब वह रत्नखचित बुर्ज भी रोने लगा था उसके आँसू ढुलक-ढुलक कर ओस की बूँदों के रूप में इधर-उधर बिखर रहे थे।

और वह मोती मस्जिद, लाल-लाल किले का वह उज्ज्वल मोती आज वह भी खोखला हो गया। उसका ऊपरी आवरण, उसकी चमक-दमक वैसी ही है किन्तु उसकी वह आभा अब लुप्त हो गयी। उसका वह रिक्त भीतरी भाग धूल धूसरित हो रहा है, और आज एकाध व्यक्ति के अतिरिक्त उस मसजिद में परमपिता का भी नामलेवा नहीं मिलता।। प्रतिदिन सूर्य पूर्व से पश्चिम को चला जाता है, सारे दिन तपने के बाद संध्या हो जाती है, सिहर-सिहर कर वायु बहती है, किन्तु ये श्वेत प्रस्तर खण्ड सुनसान अकेले ही खड़े अपने दिन गिना करते हैं। उस निर्जन स्थान में एकाध व्यक्ति को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि उन दिनों यहाँ आने वाले व्यक्तियों में से किसी की आत्मा अपनी पुरानी स्मृतियों के बन्धन में पड़कर खिंची चली आई है। प्रार्थना के समय 'मुअज्जन' की आवाज सुनकर यही प्रतीत होता है कि शताब्दियों पहिले गूंजने वाली हलचल चहल-पहल तथा शोरगुल की प्रतिध्वनि आज भी उस सुन्दर परित्यक्त मसजिद में गूंज रही है।

उस लाल-लाल किले में मोती मसजिद, खास आदि श्वेत भव्य भवनों को देखकर यही प्रतीत होता है कि अपने प्रेमी की, अपने संरक्षक की मृत्यु से उदासीन होकर इस किले को वैराग्य हो गया, अपने अरुण शरीर पर श्वेत भस्म रमा ली। उस महान किले का वैराग्य, उस जीवनपूर्ण स्थान की यह निर्जनता, ऐश्वर्य विलास से भरपूर सोते में यह उदासी, और उन रंग-बिरंगे, चित्रित तथा सजे-सजाए महलों का यह नग्न स्वरूप ··साधारण दर्शकों के हृदयों को हिला देता है, तब क्यों न वह किला संन्यास ले ले ! संन्यास संन्यास तभी तो चिरसहचरी यमुना को भी इसने लात लगाकर दूर हटा दिया; ठुकरा कर अपने से बिलग किया, और अपने सारे बाह्य द्वार बन्द कर लिए। अब तो इनी-गिनी बार ही उसके नेत्र पटल खुलते हैं, संसार को दो नजर देखकर पुनः समाधिस्थ हो जाता है वह किला। उस दुखी दिल को सताना, उस निर्जन स्थाम को फिर मनुष्य की याद दिलाना भाई ! सम्भल कर जाना वहाँ; वहाँ के वे क्षुधित पाषाण, वह प्यासी भूमि न जाने कितनी आत्माओं को निगल कर न जाने कितनों के यौवन को कुचल कर, एवं न जाने कितनों के दिलों को छिन्न-भिन्न करके उनके जीवन रस को पीकर भी लुप्त नहीं हुई; आज भी वह आपके आँसुओं को पीने के लिए कुछ क्षणों के लिए ही क्यों न हो आपकी सुखद घड़ियों को भी विनष्ट करने को उतारू है।

उस किले का यह लाल-लाल जहाँगीरी महल—सुरा, सुन्दरी और संगीत के उस अनन्य उपासक की वह विलासभूमि—आज भी वह यौवन की लाली से रँगा हुआ है। प्रतिदिन अन्धकारपूर्ण रात्रि में भूतकाल की यवनिका उठ जाती है, तब पुनः उन दिनों का नाट्य होता देख पड़ता है, जब अनेकों की वासनायें अतृप्त रह जाती थीं, कदमों की जीवन घड़ियाँ निराशा के ही अन्धकारमय वातावरण में बीत जाती थीं, और जब प्रेम के उस वालुकामय शान्ति-जल विहीन ऊपर में पड़े-पड़े अनेकों उसकी गरमी के मारे तड़पते थे। उस सुनसान परित्यक्त महल में रात्रि के समय सुन पड़ती है उल्लासपूर्ण हास्य तथा विषादमय करुण क्रन्दन की प्रतिध्वनियाँ ! वे अशान्त आत्माएँ आज भी उन वैभवविहीन खण्डहरों में घूमती हैं और सारी रात रो-रो कर अपने अपार्थिव अश्रुओं से उन पत्थरों को लथ-पथ कर देती हैं। किन्तु जब धीरे-धीरे पूर्व में अरुण की लाली देख पड़ती है, आसमान पर स्वच्छ नीला-नीला परदा पड़ने लगता है, तब पुनः इन महलों में वही सन्नाटा छा जाता है, और निस्तब्धता का एकछत्र साम्राज्य हो जाता है। उन मृतात्माओं की यदि कोई स्मृति शेष रह जाती है तो उनके वे बिखरे हुए अश्रुकण, किन्तु क्रूर काल उन्हें भी सुखा देना चाहता है। यहाँ की शान्ति यदि कभी भंग होती है तो केवल दर्शकों की पद-ध्वनि से तथा 'गाइडों' की टूटी-फूटी अँग्रेजी शब्दावली द्वारा। रात और दिन में कितना अन्तर होता है ! विस्मृति के पट के इधर और उधर····एक ही पट की दूरी, वास्तविकता और स्वप्न; भूत तथा वर्तमान···कुछ ही क्षणों की देरी और हजारों वर्षों का सा भेद····कुछ भी समझ नहीं पड़ता कि यह है क्या।

उस मृतप्राय किले के अब केवल कंकालावशेष रह गए हैं; उसका हृदय भी बाहर निकल पड़ा हो ऐसा प्रतीत होता है। नक्षत्र-खचित आकाश के चँदवे के नीचे पड़ा है वह काले पत्थर का टूटा हुआ सिंहासन, जिस पर किसी समय गुदगुदे मखमल का आवरण छाया हुआ होगा और जिस पत्थर तक को सुशोभित करने के लिए, जिसे सुसज्जित बनाने के वास्ते अनेकानेक प्रयत्न किये जाते थे, आज उसी की यह दशा है। वह पत्थर है, किन्तु उसमें भी भावुकता थी; वह काला है किन्तु फिर भी उसमें प्रेम का शुद्ध स्वच्छ सोता बहता था। अपने निर्माता के वंशजों का पूर्ण पतन तथा उनके स्थान पर छोटे-छोटे नगण्य शासकों को सिर उठाते देखकर जब इस किले ने वैराग्य ले लिया, अपने यौवनपूर्ण रक्तमय गात्रों पर भगवाँ डाल लिया, श्वेत भस्म रमा ली, तो उसका वह छोटा हृदय भी क्षुब्ध होकर तड़प उठा, अपने आवरणों में से बाहर निकल पड़ा, वह बेचारा भी रो दिया। वह पत्थर हृदय भी अन्त में विदीर्ण हो गया और उनमें से भी रक्त की दो बूँदें टपक पड़ीं। मुगलों के पतन को देखकर पत्थरों तक का दिल टूट गया, उन्होंने भी रुधिर के आँसू बहाए परन्तु वे मुगल, उन महान् सम्राटों के वे निकम्मे वंशज, ऐश्वर्य विलास में पड़े सुख-नींद सो रहे थे ······उनकी वही नींद चिरनिद्रा में परिणत हो गई।

और वह शीशमहल, मानव-कांचन-हृदय के टुकड़ों से सुशोभित वह स्थान कितना सुन्दर, दीप्तिमान, भीषण तथा साथ ही कितना रहस्यमय भी है! यौवन, ऐश्वर्यं तथा राजमद से उन्मत्त सम्राटों को अपने खेल के लिए मानव हृदय से अधिक आकर्षक वस्तु न मिली। अपने विनोद के लिए, अपना दिल बहलाने के हेतु उन्होंने अनेकों के हृदय चकनाचूर कर डाले। भोले-भाले हृदयों के उन स्फटिक टुकड़ों से उन्होंने अपने विलास-भवन को सजाया। एक बार तो वह जगमगा उठा। टूटकर भी हृदय अपनी सुन्दरता नहीं खोते, उसके विपरीत रक्त से सने हुए वे टुकड़े अधिकाधिक आभापूर्ण देख पड़ते हैं। किन्तु जब साम्राज्य के यौवन की रक्तिम ज्योति विलीन हो गई, उस चमकते हुए रक्त की लाली भी कालिमा में परिणत होने लगी तब तो मानव जीवन पर कालिमामयी यवनिका डालने वाली उस कराल मृत्यु का भयंकर तमसावृत्त पटल उस स्थान पर गिर पड़ा; उस शीशमहल में अन्धकार ही अन्धकार छा गया।

मानव-हृदय एक भयंकर पहेली है। दूसरों के लिए एक बन्द पुर्जा है; उसके भेद, उसके भावों को जानना एक असंभव बात है और उन हृदयों की उन गुप्त गहरी दरारों का अन्धकार····एक हृदय के अन्धकार को भी दूर करना कितना कठिन हो जाता है और विशेषतया उन दरारों को प्रकाशपूर्ण बनाना और यहाँ तो अनेकों मानव-हृदय थे, सैकड़ों हजारों—और उन हृदयों के टुकड़े, वे सिकुड़ते हुए रक्त से सने खण्ड····उन्होंने अपनी दरारों में संचित अन्धकार को उस शीशमहल में उँड़ेल दिया। मुगलों ने शीशमहल की सृष्टि की और सोचा कि प्रत्येक मानव-हृदय में उन्हीं का

प्रतिबिम्ब दिखाई देगा··· परन्तु यह कालिमा और मानव हृदय की वे अनबूझ पहेलियाँ····। मुगलों ने उमड़ते हुए यौवन में, प्रेम के प्रवाह में एक चमक देखी और उसी से सन्तुष्ट हो गए। दर्शकों को भी सम्यक् प्रकारेण बताने के लिए तथा उस अन्धकार को क्षणभर के लिए मिटाने के हेतु गन्धक जलाकर आज भी ज्योति की जाती है। मुगलों के समान दर्शक भी उन काँच के टुकड़ों में एक बार अपना प्रतिबिम्ब देखकर समझते हैं कि उन्होंने सम्पूर्ण दृश्य देख लिया। परन्तु उस अन्धकार को कौन मिटा सकता है ? कौन मानव-हृदय के तल को पहुँच पाया है ? किसे उन छोटे-छोटे दिलों का रहस्य जान पड़ा है ? कौन उन टूटे हुए हृदयों की सम्पूर्ण व्यथा को, उनकी कसक को समझ सका है ?·· यह अन्धकार तो निरन्तर बढ़ता ही जाता है।

सुन्दरता में ताज का प्रतियोगी, ऐतमादुद्दौला का मकबरा, भाग्य की चंचलता का मूर्तिमान स्वरूप है। राह-राह भटकने वाले भिखारी का मकबरा भूखों मरते तथा भाग्य की मार से पीड़ित रंक की कब्र ऐसी होगी, यह कौन जानता था ? यह श्वेत समाधि भाग्य के कठोर थपेड़े खाए हुए व्यक्ति के सुखान्त जीवन की कहानी है। श्वेत पत्थर के इस मकबरे के स्वरूप में सौभाग्य घनीभूत हो गया है। यौवन मद से उन्मत्त साम्राज्य में नूरजहाँ के उत्थान के साथ ही वासनाओं के भावी अन्धड़ के आगम की सूचना देने वाली तथा उस अन्धड़ में भी साम्राज्य के पथ को प्रदीप्त करने वाली यह ज्योति मुगल स्थापत्य कला की एक अद्भुत वस्तु है।

और उस मृतप्राय नगरी से कोई पाँच मील दूर स्थित है वह अस्थि-विहीन पंजर। अपनी प्रियतमा नगरी की भविष्य में होने वाली दुर्दशा की आशंका तक से अभिभूत होकर ही अकबर ने अपना अन्तिम निवास-स्थान उस नगरी से कोसों दूर बनाने का आयोजन किया था। अकबर का सुकोमल हृदय मिट्टी में मिलकर भी अपनी कृतियों की दुर्दशा नहीं देख सकता था और न देखना ही चाहता था। उस शांत वातावरणपूर्ण सुरम्य उद्यान में स्थित यह सुन्दर समाधि अपने ढंग की एक ही है। अकबर के व्यक्तित्व के समान ही समाधि दूर से एक साधारण-सी वस्तु जान पड़ती है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसके पास जाते हैं उस समाधि-भवन में पदार्पण करते हैं, त्यों-त्यों इसकी महत्ता, विशालता एवं विशेषताएँ अधिकाधिक दिखाई पड़ती हैं। उस महान् अव्यावहारिक धर्म 'दीन-ए-इलाही' के इस एकमात्र स्मारक को निर्माण करने में अकबर ने अनेकानेक वास्तुकलाओं के आदर्शों का अनोखा सम्मिश्रण किया था।

ध्रुव की ओर सिर किए अकबर अपनी कब्र में लेटा था। एक ध्रुव को लेकर ही उसने अपने समस्त जीवन तथा सारी नीति की स्थापना की थी और उसके उस महान् आदर्श ने विश्व-बन्धुत्व के उस टिमटिमाते हुए ध्रुव ने मृत अकबर को भी अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अकबर का वह छोटा-सा शव उस विशाल समाधि में भी नहीं समा सका, वह वहाँ शान्ति से नहीं रहा। विश्व-प्रेम तथा मानव भ्रातृत्व के प्रचारक अकबर के अन्तिम अवशेष, वे मुट्ठीभर हड्डियाँ भी विश्व

में मिल जाना चाहती थीं। विशाल हृदय अकबर मरकर भी कठोर पत्थरों की उस विशाल, किन्तु आत्मा की दृष्टि से बहुत ही संकुचित परिधि में नहीं समा सका। अपने अप्राप्त आदर्शों की ही अग्नि में जलकर उसकी अस्थियाँ भी भस्मसात् हो गयीं और वह भस्म वायुमण्डल में व्याप्त होकर विश्व के कोने-कोने में समा गई। अकबर की हड्डियाँ भस्मीभूत हो गयीं, परन्तु अपने आदर्शों को न प्राप्त कर सकने के कारण उस महान सम्राट् की वह प्रदीप्त हृदय ज्वाला, आज भी बुझी नहीं है, उस मिट्टी के दीपक-रूपी हृदय में अगाध मानव स्नेह भरा है, उसमें सदिच्छाओं तथा शुभ भावनाओं की शुद्ध श्वेती बत्ती पड़ी है और वह तिलतिलकर जलता है। वह टिमटिमाती हुई लौ आज भी अकबर की समाधि पर जल रही है और धार्मिक संकीर्णता के अन्धकार से पूर्ण, विश्व के सदृश गोल तथा विशाल गुम्बज में वह उस महान् आदर्श की ओर इंगित करती है, जिसको प्राप्त करने के लिए शताब्दियों पहले अकबर ने प्रयत्न किया था, और जिसे आज भी भारतीय राष्ट्र नहीं प्राप्त कर सका है।

मानव जीवन एक पहेली है और उससे भी अधिक अनबूझ वस्तु है, विधि का विधान। मनुष्य जीवन के साथ खेलता है, जीवन ही उसके लिए मनोरंजन की एकमात्र वस्तु है, और वही जीवन इस लोक में फैलकर संसार-व्यापी हो जाता है। संसार उस बिखरे हुए जीवन को देखकर हँस देता है या ठुकरा देता है। परन्तु जीवन बीत चुकने पर जब मनुष्य उसे समेट कर इस लोक से विदा लेता है तब संसार उस विगत आत्मा के संसर्ग में आई हुई वस्तुओं पर प्रहार कर या उन्हें चूमकर समझ लेता है वह उस अन्तर्हित आत्मा के प्रति अपने भाव प्रकट कर रहा है। उस मृत व्यक्ति के पाप या पुण्य का भार उठाते हैं उसके जीवन से सम्बद्ध ईंट और पत्थर, उसकी स्मृतियों के अवशेष। किसका कृत्य और किसे यह दण्ड····परन्तु यही संसार का नियम है, विधि का ऐसा ही विधान है।

बिखरे पड़े हैं मुगल सम्राटों के जीवन के भग्नावशेष उस मृतप्राय नगरी में। जिन्होंने उस नगरी का निर्माण किया था उनका अन्त हो गया उनका नाम-लेवा भी न रहा। सब कुछ विनष्ट हो गया; वह गौरव, वह ऐश्वर्य, वह समृद्धि, वह सत्ता—सब विलीन हो गये। मुगल साम्राज्य के उन महान् मुगल सम्राटों की स्मृतियाँ, उन स्मृतियों के वे रहे-सहे अवशेष यत्र-तत्र बिखरे हुए वैभवविहीन से खण्डहर, उन सम्राटों के विलास-स्थान, ऐश्वर्य के वे आगार, उनके मनोभावों के वे स्मारक सब शताब्दियों से धूल-धूसरित हो रहे हैं, पानी पत्थर, सरदी-गरमी की मार सह रहे हैं। उन्हें निर्माण करने में उनके निर्माताओं के लिए विलास और सुख की सामग्री एकत्र करने में, जो-जो पाप तथा सहस्रों दरिद्रियों एवं पीड़ितों के हृदयों को कुचल कर जो-जो अत्याचार किये थे, उन्हीं सबका प्रायश्चित्त आगरे के ये भग्नावशेष कर रहे हैं। कब जाकर यह प्रायश्चित्त सम्पूर्ण होगा, यह कौन जानता है कि कुछ बता सके।●

12
आदि काव्य

रामविलास शर्मा

काव्य में वेद भी आ जाते हैं, फिर भी आदि काव्य वाल्मीकीय रामायण को ही कहा गया है ।

इसका कारण यह हो सकता है कि वैदिक काव्य की देवोपासना के वदले वहाँ पहले-पहल मानव चरित्र को काव्य का विषय बनाया गया है और इन मानवीय काव्य में मनुष्य को देवता के सिंहासन पर नहीं बिठाया गया वरन् उसकी शक्ति, असमर्थता और वेदना को बड़ी सहानुभूति से चित्रित किया गया है ।

रामायण की मूल कहानी उत्तर वैदिक काल की है जब आर्य मध्यभारत में अपनी संस्कृति फैला रहे थे। इस संस्कृति के अग्रदूत अगस्त्य आदि ऋषि थे, जिन्हें जनस्थान के अनार्य निवासी सताया करते थे। इनकी रक्षा करने के बहाने आर्य राजाओं ने नर्मदा तक अपना राज्यविस्तार किया। आर्य संस्कृति के प्रचारकों के सम्पर्क में आने से हनुमान आदि उसकी भाषा के पण्डित हो गये थे, कुछ पहले आने वाले आर्य अनार्यों के साथ घुलमिल भी गये जैसे रावण। अनार्यों में सुग्रीव-विभीषण आदि का एक दल आर्यों का मित्र बन गया और इस तरह उनकी विजय-यात्रा में वह सहायक हुआ। इसमें सन्देह नहीं जान पड़ता कि राम का विजय-अभियान नर्मदा तक पहुँच कर रुक गया था। सम्पाति विन्ध्या की गुहा से निकल कर तुरन्त ही समुद्र के किनारे जा पहुँचता है और बालि भी किष्किधा से निकल कर समुद्र के किनारे सन्ध्या करने को पहुँच जाता है। अवश्य ही यह समुद्र विन्ध्याचल के दक्षिण में कोई झील रही होगी। इसके पार कल्पना-लोक के स्वर्ग-सी सुन्दर लंका है जहाँ राम अपने अनुयायी विभीषण को राजा बनाकर अयोध्या लौट आते हैं। इस विजय की गाथाएँ जन-साधारण में अवश्य प्रचलित रही होंगी। इन्हीं को आगे चलकर किसी कवि ने महाकाव्य का रूप दे डाला और सम्भवतः अपने को ओट में रखकर उसने सारा श्रेय ऋषि वाल्मीकि को दे दिया। यह तो निश्चित है कि रामायण की भाषा उत्तर वैदिक काल के आर्य-अनार्यों के संघर्ष युग की भाषा

नहीं। वाल्मीकी राम के सम-सामयिक हैं परन्तु उनके नाम से चलने वाली रामायण की रचना बहुत बाद की है।

रामायण और ग्रीस के महाकाव्य इलियड की गाथाओं में अनेक समानताएँ हैं। दोनों की ऐतिहासिक वास्तविकता आर्य-अनार्यों का संघर्ष है। होमर का ट्राय तो खोद निकाला गया है लेकिन वाल्मीकि की लंका अभी पृथ्वी के गर्भ में ही है। दोनों गाथाओं में हेलेन और सीता की चोरी के बहाने युद्ध होता है; केवल ग्रीस की गाथा में हेलेन अपनी इच्छा से पैरिस के साथ भाग जाती है और भारतीय गाथा में सीता को रावण बलपूर्वक हर ले जाता है। होमर की गाथा में शूरवीरों के आश्चर्य-जनक कृत्यों का वर्णन है और मृत्यु के उस महान् सत्य की ओर बार-बार संकेत है जिसका सामना एक दिन हर मनुष्य को करना है। वाल्मीकि का नैतिक धरातल और ऊँचा है; वह मान-चरित्र के पण्डित होते हुए भी आदर्शवादी हैं। मृत्यु के लिए यहाँ इतना भय नहीं है; इस जीवन में ही मनुष्य की वेदना उनके काव्य का परम सत्य है। राम, सीता, कौसल्या आदि के चरित्र में उन्होंने इसी वेदना का चित्रण किया है।

रामायण की मूल गाथा का लक्ष्य आर्यों की विजय और अनार्यों का पराभव चित्रित करना ही रहा होगा, उसकी झलक रामायण के इस रूप में भी जहाँ तहाँ मिलती है। जब बालि राम के छिपकर तीर मारने की निन्दा करता है, तब राम उसे यह उत्तर देते हैं कि सारी पृथ्वी आर्यों की है; धर्म-अधर्म का विचार वही कर सकते हैं; अनार्यों को इस पर विवाद करने का अधिकार नहीं है। परन्तु वाल्मीकि का लक्ष्य अनार्यों को राक्षस-रूप में और आर्यों को देव-रूप में चित्रित करके उन्हें ऊँचा नीचा दिखाने का नहीं। उनको बालि, रावण, मेघनाद आदि से सहानुभूति होती है और राम, दशरथ, लक्ष्मण आदि में गुणों के साथ मानवीय दुर्बलताओं का भी समावेश है।

जिस कवि ने महाकाव्य-रूप में इस समूची गाथा की कल्पना की थी, उसमें असाधारण करुणा और जीव-मात्र के प्रति उत्कट सहानुभूति थी, इसमें सन्देह नहीं। इस काव्य में एक अनोखी बात यह है कि इसके आरम्भ में किसी देवी-देवता की वन्दना नहीं है कविता का जन्म भी इन्द्र या वरुण की उपासना से नहीं माना गया वरन् क्रौंच पक्षी के मारे जाने से, उसकी संगिनी के आर्तनाद से, ऋषि के हृदय में उत्पन्न होने वाले क्रोध और करुणा से माना गया है। शोकः श्लोकत्वमागतः—कवि के शोक को ही श्लोक का रूप मिल गया। इस शोक से उत्पन्न होने वाली कविता को राज-दरबार की नटी नहीं बनाया गया; न वह देवों की अर्चना में लिखा हुआ किसी पुरोहित का गीत है। इस गाथा को चारों वर्ण पढ़ते हैं और उससे उनका कल्याण होता है। यद्यपि राम ने शंबु को मारा था, फिर भी वाल्मीकि ने रामायण पढ़ने में शूद्रों का निषेध नहीं किया। उन्होंने कहा है—जनश्च शूद्रोपि महत्वम यात् : शूद्र

भी इसे पढ़कर बड़ा बन सकते हैं। रामायण की कथा सुनकर वनवासी ऋषि आँसू बहाते हैं और लव-कुश को कमण्डल, मेखला, कौपीन आदि भेंट करते हैं। वियोगी राम के लिये तो सबसे बड़ा-प्रायश्चित यही होता है कि उन्हें अपने ही पुत्रों से बिना जाने हुए अपनी दुखद जीवन-कथा सुननी पड़ी है। उन्हें सीता के गुणों की याद आती है, सीता के जीवन से मिली हुई अपने जीवन की समस्त घटनाओं का चित्र उन्हें देखना पड़ता है, लेकिन वह दुखी होकर आँसू ही बहा सकते हैं; सीता को पा सकना असम्भव है। कहानी की इस पृष्ठभूमि में उसकी करुणा और भी निखर उठती है।

इसमें सन्देह नहीं कि रामायण एक दुखान्त कहानी है और उसका अन्त वैसा ही है जैसा किसी बड़े दुःखान्त नाटक का हो सकता है। राम ने पिता की आज्ञा मानकर अयोध्या को छोड़ा; वन में उन्होंने कष्ट सहे और सीता के वियोग की यन्त्रणा सही; युद्ध में भाई लक्ष्मण को शक्ति लगी और सीता मिली तो उसके साथ जीवन भर के लिए जनापवाद भी मिला। अयोध्या में आकर वह सुखी न रह सके; उन्हें सीता को वनवास देना पड़ा। जब यज्ञ के बाद सीता के फिर मिलने का अवसर आया और जनता एक स्वर से सीता की पवित्रता स्वीकार करने लगी, तब सीता ने राम से एक शब्द भी न कहा वरन् अपने जीवन का समस्त अपमान और कष्ट लिये हुए पृथ्वी में समा गयीं। राम का जीवन अन्धकारमय हो गया। अन्त में काल आया और उससे बात करते समय लक्ष्मण को दुर्वासा के आने का समाचार देना पड़ा। लक्ष्मण को दण्ड-स्वरूप निर्वासन मिला और सरयू के किनारे श्वास रोक कर उन्होंने अपना प्राणान्त किया। राम के उनके उत्तराधिकारी अयोध्या पर राज्य करते रहे परन्तु आगे चल कर अयोध्या उजाड़ हो गई और कई पीढ़ियों तक वह उजाड़ बनी रही। महानाश के चित्र के साथ इस आदि काव्य का अन्त होता है। अयोध्यापि पूरी रम्य शून्या वर्ष-गणान् बहून। केवल महाभारत में जिस अन्तिम दृश्य से पटाक्षेप होता है, वह भी ऐसा ही अन्धकारपूर्ण है।

रामायण की सबसे करुण घटना सीता का वनवास है। इसके आगे राम का वन-गमन फीका पड़ जाता है। राम के साथ लक्ष्मण और सीता भी गये थे और इनके साथ रहने से राम को अयोध्या की याद बहुत न आती थी। लेकिन गर्भिणी सीता को धोखा देकर उनका वन से त्याग करना ऐसी हृदय-विदारक घटना है जिससे राम के वनवास की तुलना की ही नहीं जा सकती। रामायण की इसी घटना को लेकर उत्तर रामचरित और कुन्द माला जैसे महानाटकों की रचना की गई है। लेकिन सीता के त्याग में जिस क्रूरता का आभास आदि-कवि ने दिया है, परवर्ती कवि उसकी छाया भी नहीं छू सके। गोमती के किनारे दुःख से बेहोश होकर सीता के गिर पड़ने में जो स्वाभाविकता है, परवर्ती कवि अपने अलंकृत वर्णनों में उसे न पा सके। सीता एक वीर नारी हैं। राम के वनवास के समय उन्होंने बड़े दर्प

से कहा था—अग्रतस्तं गमिष्यामि मृदन्ती कुशकंटकान् । वह कुशकाँटों को रौंदती हुई राम के आगे चलने का साहस रखती हैं। उसमें नारी दुर्बलताएँ, क्रोध और सन्देह भी हैं। इसीलिए उन्होंने लक्ष्मण से कटुवचन कहे थे। इससे उनकी मानवीयता ही प्रकट होती है। राम की कातर पुकार सुनकर भय और चिन्ता के एक असाधारण क्षण में वह ऐसी बात कह बैठती हैं।

सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि ।
मम हेतोःप्रतिच्छानः प्रयुक्तो भरतंनवा ।।

इसके साथ वह अपना निश्चय भी प्रकट कर देती हैं कि वे भस्म हो जायेंगी लेकिन लक्ष्मण के हाथ न जायेंगी। अपनी इस दुर्बलता से सीता पाठक की सहानुभूति नहीं खो देतीं, उनकी कटूक्ति नियति का व्यंग्य बनकर उन्हीं की व्यथा को और तिक्त बना देती है जब लक्ष्मण के बदले रावण ही आकर उनका हरण करता है।

रावण की पराजय तक उन्होंने किसी तरह दिन काटे लेकिन उनके अपमान और दुख के दिन तो अब आने वाले थे! सीता के चरित्र में शंका प्रकट करने वाले सबसे पहले स्वयं राम थे, न कि अयोध्या की जनता। जब विभीषण सीता को लिवा कर आये; तब राम ने कहा—'राक्षस तुम्हें हर ले गया, यह दैव का किया हुआ अपमान था; उस अपमान को मनुष्य होकर मैंने दूर कर दिया।' लेकिन भौंहें चढ़ाकर क्रोध से तिरछे देखते हुए उन्होंने फिर कहा मैंने जो कुछ युद्ध जीतने के लिए किया है, वह तुम्हारे लिए नहीं, वरन् अपने चरित्र और वंश की कीर्ति की रक्षा के लिए। इस समय तुम संदिग्ध चरित्र वाली मुझे वैसी ही लगती हो जैसे नेत्र-रोगी को दिया लगता है। मुझे तुमसे कोई काम नहीं है; तुम्हारे लिए दशों दिशाएँ पड़ी हैं, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, जाओ। उच्च कुल में पैदा होने वाला व्यक्ति दूसरे के घर में रहने वाली स्त्री को कैसे स्वीकार कर लेगा? जिस यश के लिए मैंने यह सब किया, वह मुझे मिल गया है। तुम लक्ष्मण, भरत, सुग्रीव या विभीषण किसी के साथ भी रह सकती हो। तुम्हारा दिव्य रूप देखकर और अपने घर में पाकर रावण ने तुम्हें कभी क्षमा न किया होगा।

राम की बातें सीता का ही नहीं लक्ष्मण, सुग्रीव आदि का भी घोर अपमान करती थीं। कहाँ लक्ष्मण की निष्काम तपस्या और कहाँ राम की यह कल्पना! फिर सीता की संचित आकांक्षाएँ और उन पर यह अयाचित तुषारपात! यह अपमान भी वानरों और राक्षसों के बीच में हुआ! तब मुँह पर से आँसुओं को पोंछते हुए सीता ने धीरे-धीरे कहा—'वीर! तुम ग्रामीण जनों की तरह मेरे अयोग्य बात मुझे क्यों सुना रहे हो? यदि विवश होने पर राक्षस ने मेरा शरीर छू लिया, तो इसमें दैव का ही दोष है; मेरा क्या अपराध? जो मेरे वश में है वह हृदय तुम्हारा है; शरीर पराधीन होने से मैं असहाय कर ही क्या सकती थी? जिस समय तुमने हनुमान को लंका भेजा था उसी समय तुमने मेरा त्याग क्यों न कर दिया? तुम मेरा चरित्र भूल गये; और यह भी भूल गये कि मैं जनक की लड़की हूँ और धरती मेरी माता

है। बाल्यावस्था में तुमने जो पाणिग्रहण किया था, उसे भी तुमने प्रमाण न माना। मेरी भक्ति, मेरा शील तुम सब कुछ भूल गये।' इस तरह कहकर सीता ने लक्ष्मण से चिता चुनने को कहा। दुर्भाग्य से अग्नि का साक्ष्य भी बहुत दिनों तक काम न आया।

एक बार सीता फिर राम के सामने आयीं। वह बाल्मीकि के पीछे आँसू बहाती चल रही थी और इस बार वाल्मीकि ने उनकी पवित्रता के लिए साक्ष्य दिया और यह भी घोषित किया कि लव-कुश रामचन्द्र की ही सन्तान हैं ! उनके आने पर सभा में "हलाहल" शब्द हुआ और लोग राम और सीता को साधुवाद देने लगे। वाल्मीकि ने सीता के निर्दोष होने की शपथ ली, लेकिन राम ने कहा—"मुझे सीता के निर्दोष होने में विश्वास है लेकिन जनापवाद के कारण मैंने उनका त्याग किया था।' इसका यही अर्थ था कि सीता को ग्रहण करने का कोई उपाय नहीं है। और अब क्या वह अपमान की सीमाएँ लाँघ कर राम और जनता से यह याचना करतीं कि उन्हें फिर ग्रहण कर लिया जाय ? काषायवासिनी सीता ने आँखें नीची किए हुए और मुँह फेरे हुए ही हाथ जोड़कर उत्तर दिया—"यदि मैं राम को छोड़कर और किसी का मन में भी चिन्तन नहीं करती हूँ तो धरती मुझे स्थान दे !" उनकी शपथ के बाद पृथ्वी से सिंहासन निकली और उसी में बैठ कर वह अन्तर्धान हो गयीं।

इस चमत्कारी घटना के पीछे नारी के उस दारुण अपमान की गाथा है जो अभी तक समाप्त नहीं हुई। महान् कवियों के हृदय में इस घटना के प्रति संवेदना उत्पन्न हुई है और उन्होंने इसे रामायण की मुख्य घटना मानकर उस पर नाटकादि रचे हैं। वाल्मीकि ने सीता वनवास को असह्य क्रूरता का अनुभव किया था और इसलिए उसका वर्णन रामायण के करुणतम स्थलों में से है।

इस कहानी से मिलती-जुलती राम-गमन के समय कौसल्या व्यथा है !

कौसल्या इसीलिए दुखी नहीं है कि राम वन जा रहे हैं वरन् इसलिए भी कि पुत्र के रहने पर सपत्नियों के जिस अपमान को यह भूली हुई थी, वह उन्हें फिर सहना पड़ेगा। इसमें कैकेयी का ही दोष न था; राजा दशरथ ही उनकी ओर से उदासीन हो गए थे। कौसल्या को अपने बन्ध्या होने के दिनों की याद आई। उन्हें लगा कि इस पुत्र वियोग से तो वही दिन अच्छे थे जब पुत्र हुआ ही न था। उन्होंने राम को याद दिलाया कि जैसे पिता बड़े हैं, वैसे ही वे बड़ी हैं; इसलिए उनकी आज्ञा मानकर उन्हें वन न जाना चाहिए। परन्तु राम ने यह सब न माना और वन चल ही दिए। तब जैसे बछड़ा मारे जाने पर भी गाय उससे मिलने की इच्छा से घर की तरफ दौड़ती है, वैसे ही कौसल्या राम के रथ के पीछे दौड़ी।

प्रत्यागारमिवायान्ती सवत्सा वत्सकारणात्।
बद्धवत्सायथा धेनुः राममाताभ्यधावत् ॥

ऐसे स्थलों के लिए सचमुच कहा जा सकता है कि शोकः श्लोकत्वमागतः।

करुणा के साथ क्रोध की भी उच्च कोटि की व्यंजना हुई है। कौसल्या का दुःख देखकर लक्ष्मण का पिता पर क्रोध, समुद्र की दुष्टता देखकर राम के वाक्य, कुंभिला में यज्ञध्वंस होने पर विभीषण के प्रति मेघनाथ का उपालम्भ—ये सब इस महाकाव्य के स्मरणीय स्थल हैं। सम्वादों में ऐसी नाटकीयता महाभारत छोड़कर संस्कृत के और किसी काव्यों में (नाटकों समेत) नहीं है। कौसल्या को विलाप करती हुई देखकर लक्ष्मण ने कहा—"मुझे भी राम का इस तरह राज्य छोड़कर वन जाना अच्छा नहीं लगता। काम-पीड़ित होकर वृद्ध शक्तिहीन राजा इस तरह क्यों न कहे ? मुझे तो लोक-परलोक में ऐसा कोई भी नहीं दिखाई देता जो इस दोष की तुलना कर सके। देवता के समान, शत्रुओं को भी प्रिय, पुत्र का कौन अकारण त्याग कर देगा ? राजा फिर से बालक हो गये हैं, उनके चरित्र को जानने वाला कौन व्यक्ति उनकी बात मानने को तैयार हो जायगा ?' उन्होंने भाई से कहा—"लोग तुम्हारे वनवास की बात जानें, इसके पहले ही मेरे साथ तुम शासन पर अधिकार कर लो। धनुष लेकर मेरे साथ रहने पर तुम्हारा कोई क्या बिगाड़ सकता है ? यदि कोई विरोध करेगा तो मैं तीक्ष्ण वाणों से अयोध्या को जनहीन कर दूंगा !" फिर उन्होंने कौसल्या से कहा —"मैं धनुष की शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं अपने भाई से प्रेम करता हूँ। यदि जलते हुए वन में राम प्रवेश करेंगे तो आप मुझे पहले ही उस वन में प्रविष्ट हुआ समझ लीजिये। देवि, आप मेरी शूरता को देखें, जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार छँट जाता है, वैसे ही मैं आपका दुःख दूर करूँगा। कैकेयी में आसक्त इस पिता का मैं नाश करूँगा जो बुढ़ापा में फिर बच्चों जैसी बातें कर रहा है :—

हरिष्ये पितरं वृद्धम् कैकेय्यासक्तमानसम्।
कृपणं च स्थितं बाल्ये वृद्धभावने गर्हितम् ॥"

यह चरम क्रोध का उदाहरण है। रामायण में सामाजिक नियम मानव-सुलभ सहृदयता के आड़े आते हैं, इसके विरोध और परस्पर संघर्ष से ही यह नाटक दुःखान्त बनता है। लक्ष्मण के विद्रोह में नियमों के प्रति वही तिरस्कार और मानवीय सहानुभूति का पक्षपात है।

रामायण के अनेक संवादों में व्यंग्य खूब निखरा हुआ है, और उसका उपयोग इसी मानवीय सहानुभूति को उभारने के लिए हुआ है। बालि-वध के उपरान्त तारा राम से कहती है, "जिस वाण से आपने बालि को मारा है उसी से मुझे भी मार डालिए और यदि आप समझें कि स्त्री को मारना अनुचित है तो बालि और मेरी आत्मा को एक जान कर अपना संशय दूर कर दीजिए।"

जब राम ने छिपकर बालि को मारा और उसके अनार्य होने से कोई पाप

न हुआ, तब उसकी स्त्री को ही मारने में क्या पाप है ? बालि की मृत्यु के बाद पाठक की सारी सहानुभूति तारा की ओर खिंच जाती है ।

वाल्मीकि प्रतिपक्ष को बड़ा करके उसे उसके उचित रूप दिखाने में कभी पीछे नहीं हटते । बालि और सुग्रीव एक चित्रण में उन्होंने सुग्रीव को बड़ा करके दिखाने का प्रयत्न नहीं किया । सुग्रीव एक तो छिपकर भाई की हत्या करवाता है; फिर राज्य पाने पर भाई की स्त्री के साथ ऐसा विलास में पड़ जाता है कि उसके प्रति पाठक को तनिक भी सहानुभूति नहीं रह जाती । लक्ष्मण का क्रोध बिलकुल उचित जान पड़ता है ।

रावण के शयनागार का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि वह एक भी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध न लाया था । उसकी पत्नियाँ न पहले किसी की स्त्री रही थीं न उन्हें दूसरे पति की इच्छा थी । हनुमान ने सीता के और इन स्त्रियों के प्रति प्रेम की तुलना तक कर डाली । उन्होंने कहा—"जैसी ये रावण की स्त्रियाँ हैं वैसी ही यदि राम की पत्नी भी हैं (अर्थात् रावण उनका, उनका नष्ट नहीं कर सका), तभी उसका कल्याण है ।" जिस समय हनुमान शिंशुपा की डाल पर बैठे थे, तभी धनुषवाण छोड़े हुए काम के समान रावण वहाँ उपस्थित हुआ । हनुमान स्वयं तेजस्वी थे; फिर भी रावण का तेज उन्हें असह्य हो उठा उन्होंने अपने को पत्तों के पीछे छिपा लिया ।

स तथ्याप्युग्रतेउ सन्निर्धूतस्तस्य तेजसा ।
पत्रगुह्यास्तरे सक्तो हनुमान संवृतोऽभवत् ।।

रावण के तेज का इससे बढ़कर और क्या बखान हो सकता था ? वाल्मीकि की तटस्थता और नाटकीय प्रतिमा का अकाट्य प्रमाण है ।

एक स्थल और है जहाँ ऐसे ही सन्तुलन से उन्होंने चरित्र की विशेषता दिखाई है । राम के वनवास की अवधि में भरत उनकी पादुकाओं की अर्चना किया करते हैं । निःस्वार्थता के वे चरम उदाहरण हैं । राम और लक्ष्मण पर जब भी विपत्ति पड़ती है, तभी भरत के षड्यन्त्र की गन्ध उन्हें मिलती है लेकिन जब अवधि पूर्ण हुई और भरत अपनी तपस्या के फलस्वरूप राम के दर्शन की बाट जोह रहे थे । तब अयोध्या के पास पहुँचकर राम ने हनुमान से कहा कि वह भरत के पास जायें और रावण-वध आदि का वृत्तान्त कहकर उनके आने की सूचना दें और देखें कि भरत के मुँह पर कैसे भाव प्रकट होते हैं । बाप-दादों का राज्य पाकर किसका मन विचलित नहीं हो, कवि ने राम के हृदय में यह शंका उत्पन्न करके भरत के त्याग में चार चाँद लगा दिये हैं ।

जैसी निपुणता और भाव सम्बन्धी लाघवता इन संवादों में देख पड़ती है जैसी ही चित्रमयता इस महाकाव्य के वर्णनात्मक स्थलों में भी है । तमसा के किनारे से

लेकर जहाँ वाल्मीकि शिष्य से घड़ा रख देने को कहते हैं, रावण के शयनागार तक, जहाँ का सौन्दर्य और वैभव वर्णनातीत है, कवि ने अपनी सजीव कल्पना का समान रूप से परिचय दिया है। उसकी उपमाएँ अनूठी हैं; लम्बे वर्णन के बाद दो शब्दों में वे एक अनुभूति को मानों संचित कर देते हैं। रावण के शयनागार के लिए लिखा है कि उसने हनुमान की माता के समान तृप्त किया।

रामायण के चित्रों में विराट और उदात्त भावना विद्यमान रहती है। उनमें एक विशेष प्रकार की गरिमा और वैभव है। स्वाभाविकता और लाघवता—संसार को देखने में उनकी कुशलता और चतुरता तो है ही। लंका में आग लगने पर वह लपटों के लिए कहते हैं कि कहीं तो वे किंशुक के फूलों जैसी, कहीं शाल्मली के फूलों जैसी और कहीं कुकुक जैसी लगती हैं ! राम-रावण युद्ध में ऐसे बहुत-से चित्र देखने को मिलते हैं। जिस समय लक्ष्मण ने विभीषण पर आती हुई रावण की शक्ति अपने बाणों से काट डाली, उस समय वह काञ्चनमालिनी शक्ति स्फूलिंग छोड़ती हुई आकाश से उल्का के समान पृथ्वी पर गिरी। पुनः रावण की अमोघ शक्ति वासुकी जीभ के समान लक्ष्मण के हृदय में घुस गई। इस तरह की उपमाएँ इस महाग्रन्थ में भरी पड़ी हैं।

जीवन के प्रति कवि का दृष्टिकोण नकारात्मक नहीं है। उसे भोग-प्रधान कहना अनुचित न होगा। जिन ऋष्यश्रृंग ने पुत्रेष्टि यज्ञ कराके दशरथ की पुत्रहीनता को दूर किया था, वे शान्ता के पति थे और उसके पति होने के पहले वेश्याओं के आकर्षण से वन छोड़कर नगर की ओर गये थे। राम और सीता की प्रेम क्रीड़ाओं के वर्णन में कहीं झिझक नहीं है। रावण के शयनागार के वर्णन में तो सौन्दर्य और विलासिता का नद उमड़ चला है। स्त्रियों की विभिन्न मुद्राओं के वर्णन से खुजराहो की नग्न प्रस्तर मूर्तियों की याद आ जाती है। भरत सेना लेकर भरद्वाज मुनि के आश्रम पहुँचते हैं तो उनके प्रभाव से सैनिकों के भोजन, पान और रति का प्रबन्ध हो जाता है। सीता की खोज करते हुए वानरगण जब विवर में प्रवेश करते हैं, तब वहाँ भी लंका के समान वे एक काल्पनिक स्वर्ग में विहार करने लगते हैं और कुछ के मन में यह भी आता है कि वहीं रहना चाहिए; (सीता की खोज करना व्यर्थ है)। इन सबके साथ लक्ष्मण और हनुमान के चरित्र का भी आदर्श है। अपनी साधना और तेज में वे अद्वितीय हैं अथवा अपने ढंग के दो ही हैं। इन जितेन्द्रिय पुरुषों का मन भी कभी-कभी चंचल हो उठता है। हनुमान तृप्ति की भावना से रावण की स्त्रियों को देखते हैं यद्यपि जानते हैं कि ऐसा करना अनुचित है। लेकिन सीता का पता लगाना ही है; इसलिए और दूसरा उपाय नहीं है। लक्ष्मण ने नारी-विमुखता की हद कर दी है क्योंकि नूपुर छोड़कर उन्होंने सीता का मुँह भी नहीं देखा। अपने दूसरे वनवास के समय जब सीता ने कहा कि मुझ गर्भवती को एक बार देख लो,

फिर राम के पास चले जाओ, उस समय लक्ष्मण ने उत्तर दिया—"शोभने, आप मुझसे क्या कह रही हैं ? मैंने अब तक आपका रूप नहीं देखा, केवल चरण देखे हैं। इस वन में जहाँ राम नहीं हैं, मैं आपको कैसे देखूं ?" क्या यहाँ पर पाठक (और उसके साथ कवि भी) यह नहीं चाहता कि लक्ष्मण अपने दमन को इस सीमा तक न ले जाते ? यह लक्ष्मण और सीता का अन्तिम संवाद था और लक्ष्मण सीता की अन्तिम इच्छा पूरी न कर सके।

सुग्रीव ने अवधि बीत जाने पर भी जब वानरों को सीता की खोज के लिये न भेजा तो लक्ष्मण क्रोध में उसकी भर्त्सना करने चले। वहाँ पर निवास में उन्होंने रूपयौवनगर्विता बहुत-सी स्त्रियों को देखा। तब उनके नूपुरों और करधनियों का शब्द सुनकर महाक्रोधी लक्ष्मण के मन में क्रीड़ा-भाव का उदय हुआ।

कूजितं नूपुराणां च काञ्चीनां निनदं तथा।
सन्निशम्य ततः श्रीमान् सौमित्रिर्लज्जितो भवत् ॥

इस लज्जा से बचने के लिये उन्होंने जोर से धनुष के रोदे को टंकारा, जिसके शब्द में वह कूजन-रणन डूब गया। सहारा लेना यही बतलाता है कि दमन का मार्ग एकदम समतल था।

सुग्रीव की हिम्मत न पड़ी कि वह स्वयं लक्ष्मण से मिलें, इसलिये उन्होंने तारा को भेजा। तारा शराब पिये हुए थी, इसलिये बिना लज्जा के, अपनी दृष्टि से लक्ष्मण को प्रसन्न करती हुई, प्रणय-प्रगल्भ वाक्य बोली। उसके निकट आने से लक्ष्मण का क्रोध दूर हो गया (स्त्रीसन्निकर्षाद्विनिवृतः कोपः)। तारा ने बड़े स्नेह से लक्ष्मण के क्रोध का कारण पूछा और लक्ष्मण ने वैसे ही स्नेह से (प्रणय-दृष्टार्थ) उसका उत्तर दिया। यह सब कहने से कवि का एक ही लक्ष्य सिद्ध होता है—उसके चरित्र श्वेत या कृष्ण न होकर मानवीय हैं और इसी में सत्य और कला के सहज दर्शन होते हैं।

दो शब्द भाषा और छन्द के बारे में कहना आवश्यक है। कवि ने कल्पना की है कि दो बालक इस गाथा को वीणा पर गाते हैं; श्लोकों की गेयता में सन्देह नहीं; परन्तु वैसे पढ़ने में भी उनका प्रवाह अविराम धारा की भाँति पाठक को आगे बहाता जाता है। इसकी संस्कृत की विशेषता यह है कि उसमें बोलचाल की स्वाभाविकता है। सम्वादों में एक कलात्मक गठन है जिसमें सबसे प्रभावशाली भाग अन्त में आता है, जैसे सीता की अन्तिम प्रार्थना में कि लक्ष्मण उन्हें देखें और लक्ष्मण के क्रोध में जब वे पिता को मारने की बात कहते हैं। भाषा का प्रवाह संवादों की इस स्वाभाविकता के लिये आवश्यक है। बीच-बीच में और विशेषकर सर्गों के अन्त में बड़े छन्द हैं जिनके चित्रमय वर्णन और मधुर शब्दावली साधारण श्लोकों से भिन्न एक विचित्र सौन्दर्य लिये होते हैं। वन-गमन के समय कौसल्या के निषेध करने पर रामचन्द्र के रोष का वर्णन ऐसे ही एक छन्द में है :

नरैरिवोल्काभिरपोह्यमानो
महागजो ध्वान्तमिव प्रविष्ठः ।
भूयः प्रज्यपाल विलापमेवं
निशम्य रामः करुणं जनन्याः ॥

इसी प्रकार जब मदविह्वला तारा लक्ष्मण के पास आती है :

सा प्रस्खलन्ती गर्वविह्वलाक्षी
प्रलम्ब काञ्चागुण हेमसूत्रा ।
सुलक्षणा लक्ष्मण सन्निधानं
जगाम तारा नमिताङ्गयष्टि ॥

परवर्ती कवियों ने भाषा को और संस्कृत किया है, उपमानों में और विचित्रता लाये हैं, उनकी नक्काशी और रंगामेजी में और बारीकी आ गयी है। लेकिन वे मानव हृदय में उतना गहरे नहीं पैठे जितना आदि-कवि; आदि कवि और उनका अन्तर समुद्र और बावड़ी का-सा है। उन कवियों के सामने लक्ष्मण ग्रन्थ पहले हैं, मानव हृदय बाद की है; वालमीकि के लिये इन ग्रन्थों का अस्तित्व ही नहीं है। उन्होंने, नायक में अमुक गुण होने चाहिये और कथा में प्रभात और सन्ध्या वर्णन होना चाहिये यह सोचकर रामायण नहीं लिखी। वह कुशल कथाकार हैं, अपनी कथा की नाटकीय परिस्थितियों को खूब पहचानते हैं, मानवहृदय की करुणा और रोब से उन्हें सहज प्रीति है, इसलिये उनकी कथा जनसाधारण के हृदय को स्पर्श करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने देव-काव्य की स्पर्धा में इस मानव-काव्य की रचना की है। राम ने बड़े गर्व से सीता से कहा है, दैव ने जो अपमान किया था, उनका मनुष्य होकर मैंने प्रतिकार किया है। राम उनके आदर्श चरित्र हैं और इस आदर्श का मूलमन्त्र है, सामाजिक विधान की रक्षा। लेकिन यह सामाजिक विधान ऐसा कठोर था कि मनुष्य की कोमल भावनाओं से उसकी मुठभेड़ होती थी। कवि की पूर्ण सहानुभूति इन कोमल भावनाओं के साथ थी यद्यपि तर्कबुद्धि उन्हें दूसरी ओर खींचती थी। यह संघर्ष ही रामायण की नाटकीयता का मुख्य कारण है और उसी से इस काव्य में करुण और उदात्त भावों की सृष्टि होती है।

नैतिकता की कसौटी पर राम सीता को वन भेज देते हैं और इसी नैतिकता के कारण राम स्वयं जाते हैं। लेकिन कवि की सहानुभूति रोती हुई कौसल्या के साथ है या वृद्ध कामातुर दशरथ की प्रतिज्ञा के साथ; वह अपवाद के भय से गर्भवती सीता के वन जाने से संतुष्ट होते या राम के साथ उनके अयोध्या में रहने से— इसमें किसे सन्देह हो सकता ? उनकी यह सहानुभूति ही उनकी महत्ता का कारण है। उनका क्रोध इसी का एक अंग है। लक्ष्मण क्रोध से पागल होकर पिता का वध करने को उद्यत होते हैं, इसलिए कि कौसल्या का दुख उनसे देखा नहीं जाता। अपनी इन

मौलिक भावनाओं के बल पर ही रामायण का रचनाकार उस पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ गया है। बहुत-से अंश प्रक्षिप्त से लगते हैं और होंगे भी, लेकिन रामायण के भी महत्त्वपूर्ण स्थलों में हम एक ही कुशल कवि की लेखनी का चमत्कार देख सकते हैं। जिस कवि ने क्रौञ्च के दुख से पीड़ित होकर या निषाद प्रतिष्ठा त्वं आदि वाक्य कहे थे, वही राम के मुँह से कहला सकता था—दैवसम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः।

वाल्मीकीय रामायण आदि काव्य हो चाहे न हो, वह ऐसा काव्य अवश्य है जिसे हम अपनी काव्यसंस्कृति का आदि-स्रोत मानने में गर्व का अनुभव करेंगे। परवर्ती कवियों ने उसके अंशों को लेकर जिस प्रकार काव्य-रचना की है, उससे आदि काव्य होने की सम्भावना और दृढ़ होती है।

13
साहित्य का स्तर

नगेन्द्र

वर्तमान हिन्दी-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में इस प्रश्न पर दो पहलुओं से विचार किया जा सकता है : एक, आज हिन्दी साहित्य का स्तर क्या होना चाहिए ? दूसरे, हिन्दी-साहित्य का स्तर आज कैसा है ?

पहला प्रश्न सैद्धान्तिक विवेचन से सम्बन्धित है और दूसरा व्यावहारिक समीक्षा का अंग है। साहित्य का स्तर क्या होना चाहिए---इस प्रश्न के साथ ही प्रत्येक समृद्ध भाषा में शास्त्रीय समीक्षा का जन्म हुआ है। सत्साहित्य का निर्माण पहले हो जाता है और उसके विश्लेषण के आधार पर फिर समीक्षक उन नियमों का निष्कर्षण करते हैं जिनके द्वारा सत्साहित्य का निर्माण सम्भव हुआ और आगे भी हो सकता है। इस प्रकार कालजयी साहित्यिक कृतियाँ, जो समय की कसौटी पर खरी सिद्ध हो जाती हैं सत्साहित्य के नियमों का निर्धारण और उसके स्तर का निर्णय करती हैं। भारतीय वाङ्मय में शास्त्रीय समीक्षा का और पाश्चात्य वाङ्मय में आभिजात्यवादी समीक्षा का विकास इसी पद्धति से हुआ है। शास्त्रीय समीक्षा प्रत्येक काव्यरूप के आदर्श का विधान कालजयी कृतियों के आधार पर ही करती है। महाकाव्य के लक्षणों का निर्माण 'रघुवंश', 'किरातार्जुनीय' आदि के नाटकीय लक्षणों का विधान 'शाकुन्तल', 'उत्तररामचरित' तथा 'मुद्राराक्षस' आदि के, और मुक्तक के नियमों का निर्धारण अमरुक आदि के आधार पर ही किया गया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास में भी यही हुआ है---अरस्तू, होरेस आदि ने, और बाद में उनके अनुकरण पर अनेक फ्रांसीसी तथा अंग्रेज आलोचकों ने यूनानी तथा लातीनी भाषाओं के अमर नाटकों के एवं काव्य के आधार पर नाट्यनियमों और काव्य-सिद्धान्तों का निर्माण किया है। उत्तर-मध्ययुग में तो वहाँ 'अमर काव्यों का अनुकरण' मूल्यांकन का मानदण्ड ही बन गया था---और 'प्रकृति के अनुकरण' का अर्थ हो गया था, 'अमर काव्यों का अनुकरण'। आगे चलकर इसका विरोध हुआ : स्वच्छन्दतावादी काव्य-मूल्यों में अनुकरण का निषेध किया गया और कान्ति तथा मौलिक सृजन के प्रति आग्रह बढ़ा। परन्तु अभिजात्यवादी मूल्यों का

पूर्ण निषेध कभी सम्भव नहीं हुआ और स्वच्छन्दतावाद के चरम उत्कर्ष के उपरान्त भी मैथ्यू आर्नल्ड जैसे आलोचकों ने अनुकरण का विरोध करते हुए सच्चे अर्थ में 'अमर काव्यों के आदर्श' की पुनः प्रतिष्ठा की। आधुनिक युग में भी आदर्श के प्रति यह निष्ठा नष्ट नहीं हुई। आचार्य शुक्ल और इधर समसामयिक लेखकों में डॉ० देवराज जैसे 'नये लेखक' (?) ने भी 'अभिजात काव्य' के आदर्श का अपने-अपने ढंग से प्रतिपादन किया। इस आदर्शनिष्ठा का अर्थ यह है कि अमर साहित्य के आधार पर ही वर्तमान साहित्य के स्तर का नियमन करना चाहिए। नये प्रबन्धकाव्य का स्तर वही होना चाहिए जो कालजयी महाकाव्यों का—प्राचीनों में 'रामचरितमानस' और नवीनों में 'कामायनी', 'साकेत', 'प्रियप्रवास' आदि का है; प्रगीत का स्तर वही होना चाहिए जो सूर, मीरा या निराला, पन्त, महादेवी के प्रगीतों का है, उपन्यास का स्तर 'गोदान', 'त्यागपत्र', 'मृगनयनी', 'दिव्या' और 'शेखर' के समान होना चाहिए—आदि, आदि। इस स्थापना के दो अर्थ किये गये : एक तो यह कि अमर काव्यों का अनुकरण ही साहित्य के स्तर की रक्षा कर सकता है, और दूसरा यह कि अमर काव्यों के अनुकरण से नहीं, वरन् उनमें सिद्ध कला-मूल्यों के प्रतिफलन से ही साहित्य के स्तर की रक्षा होती है। पाश्चात्य साहित्य और भारतीय साहित्य के रीतियुग में, जब दृष्टि रूढ़िबद्ध हो गई थी, पहला अर्थ ग्रहण किया गया; किन्तु जब दृष्टि मुक्त और विचार स्वस्थ रहे, तब दूसरा अर्थ ही मान्य हुआ। सत्तरहवीं-अठारहवीं शती के फ्रांसीसी और अंग्रेज आलोचकों की दृष्टि बहिरंग के अनुकरण तक की गई; किन्तु आर्नल्ड और शुक्ल जैसे आभिजात्यवादी आलोचक अन्तरंग मूल्यों की सिद्धि पर बल देते रहे। वास्तव में उपर्युक्त दोनों अर्थों में विकल्प के लिए अवकाश नहीं है। यदि साहित्य के स्तर का संरक्षण करने के लिए 'अमर काव्य के आदर्श' का कुछ भी अर्थ है तो यही हो सकता है कि उसके द्वारा प्रतिष्ठित साहित्य-मूल्यों की साधना की जाय; अनुकरण न सम्भव है और न काव्य—उससे तो मौलिक साधन का मार्ग ही अवरुद्ध हो जायगा। उदाहरण के लिए 'कामायनी' को लीजिये : महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों का निर्वाह वहाँ नहीं है; स्वदेश-विदेश के किसी भी कालजयी महाकाव्य के विधान का अनुकरण 'कामायनी' में नहीं किया गया, किन्तु महाकाव्य के अन्तरंग मूल्यों की सिद्धि उसमें निश्चय ही की गई है, और मौलिक रीति से की गई है। अतः वह अमर काव्य बन गया है और उसके साथ ही वर्तमान अथवा भावी महाकाव्यों का मूल्यांकन का निकष भी। कहने का अभिप्राय यह है कि साहित्य के स्तर की रक्षा के लिए अनुकरण का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जीवन की भाँति साहित्य में भी अनुकरण से आभिजात्य की नहीं, मिथ्या आभिजात्य की ही सृष्टि हो सकती है। साहित्य के स्तर की रक्षा का एक ही उपाय सम्भव है—साहित्यिक मूलों की साधना ! साहित्य का स्तर क्या होना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर मेरी समझ में, एक ही है—'साहित्य का स्तर साहित्यिक होना चाहिए'—बात 'साहित्यिक' कुछ अटपटी-सी लगती है, और शास्त्रीय दृष्टि से भी

यह एक प्रकार का उक्तिदोष है; परन्तु मेरी भी अपनी विवशता है कि मैं अपने मन्तव्य को अन्यथा व्यक्त नहीं कर सकता। इतना अवश्य कर सकता हूँ कि 'साहित्यिक' शब्द की व्याख्या मैं अपने विचार के अनुसार प्रस्तुत कर दूं।

'साहित्यिक' विशेषण का प्रयोग मैं दो रूपों में कर रहा हूँ : अभावात्मक और भावात्मक। अभावात्मक रूप में साहित्य का अर्थ है अराजनीतिक—अर्थात् साहित्यिक स्तर की रक्षा के लिए पहली आवश्यकता यह है कि साहित्य में राजनीतिक मूलों का प्रवेश निषिद्ध रहना चाहिए। राजनीति से अभिप्राय है भेद-नीति, जो सांसारिक या भौतिक लाभालाभ पर आश्रित रहती है। इसमें सभी प्रकार की स्वत्वभावना, साम्प्रदायिक भावना, व्यावसायिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण, वर्गगत या दलगत भावना और उधर भेद-बुद्धि पर आधृत नैतिक एवं दार्शनिक भावना आदि निहित है। अत: साहित्यिक स्तर का अर्थ है ऐसा स्तर जो उन सभी भेदक मूल्यों से ऊपर हुआ हो, जिनमें किसी राजनीतिक या साम्प्रदायिक मतवाद का प्रचार हो, या आर्थिक लाभालाभ की भावना निहित हो, या किसी वर्ग अथवा दल के समर्थन की आकांक्षा विद्यमान हो, या किसी नैतिक अथवा सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह के प्रति राजनीतिक आकर्षण हो। भावात्मक रूप में—साहित्य का प्राण-तत्त्व है आत्माभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति स्वरूपत: पूर्ण ही हो सकती है; खण्डित अभिव्यक्ति वास्तव में असफल अभिव्यक्ति का ही नाम है। अत: आत्माभिव्यक्ति का अर्थ है सृजनशील कलाकार के व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति—और सृजना के क्षणों में कलाकार का व्यक्तित्व समंजित हो जाता है, यह कला एवं सृजना दोनों का ही अनिवार्य नियम है। सृजना की प्रक्रिया खण्ड-प्रक्रिया नहीं हो सकती—निर्माण खण्डश: हो सकता है, किन्तु सृष्टि चेतना की अखण्ड स्थिति में ही हो सकती है और एक अखण्ड इकाई के रूप में ही हो सकती है। खण्डित चेतना दु:स्वप्नों में बिखर सकती है, किन्तु सृष्टि नहीं कर सकती, और खण्डित सृजना का अर्थ है भ्रूणपात। इसी प्रकार सौन्दर्य भी पूर्णधर्मा ही होता है—वह सामंजस्य का ही वाचक है : अनेकता में एकता की स्थापना ही कला है, वही सौन्दर्य की अभिव्यक्ति, जो साहित्य या कला का अपर नाम है, अनुभूति और अभिव्यक्ति की पूर्णता की ही वाचक है। भावात्मक रूप में साहित्य अखण्ड अभिव्यक्ति या अखण्ड अनुभूति की अखण्ड अभिव्यक्ति का पर्याय है। इस लक्षण के अनुसार साहित्यिक स्तर की रक्षा के लिए दूसरी और मौलिक आवश्यकता है अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की पूर्णता—अर्थात् निश्छल आत्माभिव्यक्ति या आत्म-सृजना—जो प्रकृत्या पूर्ण एवं अखण्ड ही हो सकती है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि आज या कल हिन्दी-साहित्य या किसी भी साहित्य के स्तर की रक्षा का एक ही उपाय है और वह यह है कि आत्माभिव्यक्ति को ही प्रमाण माना जाय और उसे साहित्येतर मूल्यों के आरोपण से मुक्त रखा जाय।

यहाँ यह भ्रम हो सकता है कि मैं आज पचास वर्ष बाद फिर 'कला, कला

के लिए' का नारा बुलन्द कर रहा हूँ। किन्तु मेरा अर्थ यह नहीं है। जीवन और साहित्य के अन्तरंग सम्बन्ध से मैं इन्कार नहीं करता - वास्तव में उसमें मेरा पूर्ण विश्वास है। साहित्य को आत्माभिव्यक्ति मानने का अर्थ ही यह है कि वह जीवन की अभिव्यक्ति है : विज्ञान, दर्शन, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र के द्वारा व्याख्यात जीवन को नहीं, वरन् साहित्यकार के 'आत्म' द्वारा अनुभूत—दूसरे शब्दों में आत्मसात्—जीवन की अभिव्यक्ति। उसमें सिद्धान्त की नहीं, अनुभूति की प्रधानता है। सिद्धान्त वहाँ तिरस्कृत या अप्रासंगिक है जैसाकि कलावादियों के वृत्त में माना जाता है। वह कलाकार के समग्र व्यक्तित्व में ओतप्रोत रहता है, उसी के आधार पर कलाकार वर्तमान में जीता है और भविष्य में जीने का उपक्रम करता है। किन्तु कला में वह कलाकार की समंजित चेतना या अनुभूति में रमा हुआ है; उससे पृथक् नहीं रहता, नहीं रह सकता। कला के लिए समस्या तभी खड़ी होती है जब सिद्धान्त अनुभूति से अलग होकर उस पर आक्रमण करता है। और, यह समस्या कोई नई बात नहीं है : आरम्भ से ही यह अनुभूत सिद्धान्त कभी धर्म, कभी दर्शन, कभी नीतिशास्त्र, कभी राजनीति, कभी अर्थशास्त्र और कभी कोरे सौंदर्यशास्त्र की खाल ओढ़कर कला और साहित्य पर आक्रमण करता रहा है। साहित्य के स्तर की रक्षा का अर्थ है, इसी सिद्धान्तवाद और उससे प्रेरित साहित्येतर मूल्यों से साहित्य की मूलभूत चेतना—मानवीय संवेदना की सृजनात्मक शक्ति—की रक्षा करना, जो अपने सहज रूप में शिव और सुन्दर है।

14
नीलकंठ

हरिशंकर परसाई

कहते हैं, शंकर ने जहर पी लिया था। जिस हलाहल की ज्वाला से चराचर सृष्टि अकुला उठी, उसे शंकर सहज ही पी गये। बड़ा अच्छा किया, बड़ी बहादुरी की, पर एक प्रश्न उठता है मेरे मन में कि कंठ को नीला क्यों होने दिया ? जो इतने अलौकिक शक्ति सम्पन्न थे, वे यदि चाहते, तो क्या कंठ का रंग हस्बे-मामूल नहीं रख सकते थे, फिर चाहा क्यों नहीं ? शायद इसलिए कि लोग कम-से-कम यह जान तो लें कि उन्होंने जहर पिया है। भला यह भी कोई बात है कि विष भी पियें और लोगों को मालूम भी न हो ! नीला कण्ठ दिखाने का लोभ शंकर से संवरित नहीं हुआ वे विष तो पचा गये, रंग नहीं पचा पाये ! रंग पचाना आसान नहीं है। मुझे तो सन्देह है कि यदि कण्ठ नीला पड़ने का यकीन न होता, तो शायद शंकर विष पीने से इन्कार कर देते।

स्वेच्छा से विष-पान करने में 'नील-कण्ठता' एक बड़ा आकर्षण है। अपनी कोशिश यह होती है कि जहर तो कम-से-कम पियें, पर कण्ठ अधिक-से-अधिक नीला हो और कोई-कोई तो गले पर नीली स्याही पोत कर 'नीलकण्ठ' बने फिरते हैं।

एक सज्जन स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग ले चुके थे। हमारी स्वातन्त्र्य सेना विजयी हुई। परम्परा है कि युद्ध में विजेता-पक्ष विजित में लूटमार करता है पर हमारे इस संग्राम में विजित-पक्ष तो सात समुद्र पार नये बम बनाने लगा। उसे कैसे जाकर लूटते ? इसलिए विजितों ने एक नयी परम्परा चलायी--अपने ही पक्ष में लूटमार करने लगे। उक्त सज्जन लड़ाई में पहली कतार में थे, इस नये शूर-कर्म में अन्तिम कतार में हो गये। कुछ हाथ नहीं लगा। तब ये बैठे-बैठे घाव दिखाकर सहानुभूति अर्जित करने लगे। स्वतन्त्रता-संग्राम ने कुछ लोगों को निठल्लेपन के संस्कार दे दिये थे। वे मजे में बैठे-बैठे कष्ट भुगतने लगे। लोग कहते, "वह बेचारा बड़ी तकलीफ उठा रहा है।" वे सुनते; बड़े प्रसन्न होते। ऐसा आनन्द और गर्व अनुभव होने लगा कि यदि कोई काम-धन्धा मिलता तो भी वे नहीं करते। स्वातन्त्र्य-

शूर नौकरी कैसे करे ? 'विक्टोरिया क्रॉस' वाला किसी सेठ के फाटक पर पुरानी वर्दी में चौकीदारी कैसे करे ? कुछ दिनों में घाव भर गये और उन्हें देखने वाले कम हो गये। तब उन्होंने एक अच्छी नौकरी कर ली।

आत्मीय की मृत्यु पर सिर मुड़ाने के और चाहे जो कारण हों, एक यह तो है ही कि दुःख स्पष्ट दिखे और उसे समाज में मान्यता मिले। सिर मुड़ाकर अजब धज बनाये, जब कोई परिचित मिल जाता है, बेचारे के हृदय में चाहे उस क्षण आनन्द हिलोरें ले रहा हो, पर उसे देखकर यह एकदम मुँह गिरा लेता है। पूछता है बड़ी गम्भीरता से (गो कि यह जानता है) "क्यों भाई, सब कुशल तो है ?" भैया, माताराम नहीं रहीं।" उसे अभ्यास से मँजा हुआ उत्तर मिलता है। वह मुँह और लटका लेता है।

"राम राम। भैया, बड़ा बुरा हुआ। क्या बीमारी थीं?"

"क्या बताऊँ भैया ! कुछ पता ही नहीं चला। बात करते-करते चल दीं।"

"राम राम ! कैसी अच्छी मौत पायी है, मातारास ने ! बड़ी पुण्यात्मा रहीं !"

मेरे एक दोस्त के चाचा की मृत्य हो गयी। उनका कोई लड़का नहीं था, सब सम्पत्ति इसी भतीजे को मिलने वाली थी। इसने उनकी अर्थी ऐसी प्रसन्नता से बाँधी, जैसे अपनी ही शादी में मण्डप तान रहा हो। ऐसे शोक में सिर घुटाया, मानो वर्षों की लालसा पूरी हो रही हो। शाम को वह मेरे साथ घूमने निकला। रास्ते में जो परिचित मिलता, उसी से वह उदास मुँह बनाकर कहता, "भैया, तुमने तो सुन ही लिया होगा। हम पर वज्रपात हो गया।" परिचित आगे बढ़ जाता, तो वह फिर प्रसन्न हो जाता। पुनः कोई मिल जाता तो अद्भुत तत्परता से वह दुःख ओढ लेता और कहता, "आपने तो सुन ही लिया होगा। हम पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा।" हमें 8-10 परिचित मिले; उनमें से किसी ने वज्रपात और पहाड़ टूटने की बात नहीं सुनी थी। उन सबको मेरे दोस्त ने यह बात सुनायी।

अजब चस्का होता है दुःख का ! फोड़ा बड़ा दर्द देता है पर फोड़े को दबाकर, छेड़कर भी तो दर्द का मजा लेते हैं। इसे 'मीठा दर्द' कहते हैं। कहते हैं दाद खुजाने का आनन्द, ब्रह्मानन्द की कोटि का होता है। हम ठीक नहीं कह सकते, क्योंकि हमें कभी हुई नहीं, यद्यपि स्नान के हम बहुत कायल नहीं हैं। ऐसे दर्द का चस्का जब लग जाता है, तो आदमी उपाय करके, फोड़ा उठाकर, उसका मजा लेता है। फिर तो दर्द व्यसन हो जाता है और इसी से प्राणरस भी मिलने लगता है।

एक भले आदमी को मैं जानता हूँ, जिन्हें दर्द का चस्का लग गया था। एक आदमी उनसे दो सौ रुपये ले गया। साल बीत गया, पर उसने रुपये वापस नहीं किये। अब उन्होंने रोना-कुढ़ना शुरू किया। एक विचित्र बात देखी—रोने कुढ़ने के बाद उनके मुख पर बड़ी प्रसन्नता, बड़ी ताजगी आ जाती। चेहरा खिल उठता।

कर्जदार ने एक दिन उनसे कहा कि हर माह पचास के हिसाब से मैं आपको चार माह में रुपये चुका दूँगा। वह पचास तुरन्त देने लगा। पर ये सज्जन लेने को तैयार नहीं। कहने लगे—"नहीं भई, हम ऐसा नहीं करते। जैसे दो सौ ले गये थे, वैसे ही दे जाना।" वह मान गया और फिर कभी नहीं आया। इधर ये भले आदमी हर मित्र के सामने दुखड़ा रोते। जब कोई कहता—"आपको लोग बहुत तंग करते हैं। आप बड़ा नुकसान उठाते हैं।" तो ये बड़े प्रसन्न हो जाते। मुझे बड़ी देर बाद समझ में आया कि उन्होंने रुपये क्यों नहीं लिए। यदि ले लेते, तो रोने-कुढ़ने का मजा नष्ट हो जाता। दो सौ रुपये उन्होंने दुःख के बैंक में डाल रखे थे और कुढ़न तथा शिकायत के रूप में जो ब्याज मिलता, उससे गुजर करते थे। ऐसे आदमी मुझे हठयोगी लगते हैं—काँटों पर पड़े हैं और भीड़ देख रही है।

एक बात और है। जब हम यह अनुभव करते हैं कि हम औरों से अधिक कष्ट भोगते हैं तब हमें गर्व होता है। दूसरों की दृष्टि में भी हम गौरवशाली बनना चाहते हैं। दर्द का ताज सिर पर रखे घूमते हैं। दुःख पूज्य माना गया है और दुःख को पूज्य बनाने में सबसे बड़ा हाथ दुख देने वालों का है। 'दीन धन्य हैं क्योंकि वही स्वर्ग के राज्य के अधिकारी होंगे', ईसा ने कहा। ईसा तो कहकर निपट गये, पर उनके अनुयायियों ने उसका अक्षरशः पालन किया। स्वर्ग का राज्य दीनों के लिए अलग छोड़कर, पृथ्वी का राज्य खुद भोगने लगे। पर स्वर्ग के राज्य के अधिकारी भी तो बनाना चाहिए। यही सोचकर ईसा के भक्तों ने कितनी कौमों को, करोड़ों आदमियों को दीन बना दिया। 'क्रूसेड' के जमाने से लेकर इस 'शीतयुद्ध' के जमाने तक स्वर्ग के अधिकारी बनाये जा रहे हैं और समय से पहिले स्वर्ग भेजे जा रहे हैं।

हम नहीं जानते, यह स्वर्ग का राज्य कहाँ है। पृथ्वी पर तो वह अभी तक नहीं आया। साम्यवादी दावा करते हैं कि वे दीनों का राज्य स्थापित कर रहे हैं, पर वे तो ईसा को ही नहीं मानते। ईसा के भक्तों से उनकी लड़ाई है। तो क्या ईसा ने अपने अनुयायियों को स्वयं शापित कर किया? क्या अपने वचन को पूर्ण करने का कार्य उन्हें सौंपा है, जो ईश्वर के अस्तित्व को ही नहीं मानते?

कुछ नहीं कहा जा सकता। अभी तो दुख पूज्य ही है। सम्पन्नता दिखाने की जितनी तीव्र हविस होती है, उससे कहीं अधिक गरीबी दिखाने की होती है।

जो दुःख की केवल जय बोलते हैं कहते हैं कि दुःख आदमी को महान् बनाता है, वे सरासर धोखा देते हैं। दुःख आदमी को 'बड़ा' भी बना सकता है और नीच भी। मन को उजला भी कर सकता है और काला भी। वे घोर निराशा से ग्रस्त होते, जो दुःख का हाथ जोड़कर स्वागत करते हैं—"पधारो महारो महाराज! हम तो कृतार्थ हो गये!" दुःख तो त्याज्य है, घृणित है! पर इसे किस कदर आसमान पर चढ़ाया गया है। कहते हैं—

गर्दिशे ऐय्याम तेरा शुक्रिया।
हमने हर पहलू से दुनिया देख ली।

ठीक है, दुनिया तुम्हारे सामने खुल गई। दोस्त धोखा दे गये, अपने पराये हो गये। पर तुम्हारा हाल क्या हुआ ? तुम्हारा तो कचूमर निकल गया। भला यह भी कोई संतोष हुआ कि हम डूबे तो डूबे, तुम्हें तो नंगा नहाते देख लिया !

दुःख का ऐसा गर्व मुझे बहुत गलत लगता है। या तो जहर पियो मत, यदि पीना ही पड़े, या दूसरों के मंगल के लिए स्वेच्छा से पी लो, तो कण्ठ नीला किये घूमो मत। पर यहाँ तो मैं दुःख का व्यापार फैला देखता हूँ। प्रकाशक से पुस्तक की रायल्टी माँगने गया, तो कहता है—"मैं भी आजकल 'हैंड टू माउथ' हूँ।" अंग्रेजी का अक्षर नहीं पढ़ा है, पर हमें खिसकाने के लिए अंग्रेजी मुहावरे रट लिये हैं ! कुछ तो पिता या भाई की मृत्यु के बाद सहानुभूति के दलाल के जरिए, दुःख का लम्बा-चौड़ा व्यापार वर्षों करते रहते हैं। वे स्वयं तो बाप को भूल जाते हैं, दूसरों को नहीं भूलने देते।

एक बार हमारा भी व्यापार शुरू हो गया था। तब की बात है, जब नौकरी छोड़ कर लेखन से जीविका चलाना आरम्भ किया था। लोगों ने समझाया कि यह हाथी डूब गये हैं, तुम क्या थाह लोगे? पर जब छोड़ ही दी तो सहानुभूति भी प्रकट करने लगे। कुछ पेशेवर सहानुभूति-प्रदर्शक होते हैं। पता लगाते रहते हैं कि किस पर क्या विपत्ति पड़ी है। किसी-किसी का तो चेहरा भी ऐसा होता है कि मालूम होता है, उन्हें सरकार से मातमपुर्सी के लिए वेतन मिलता है। मेरे बारे में चिन्ताएँ प्रकट की जाने लगीं—"बड़ा दुःख उठा रहा है बेचारा ! अब तो शायद खाने के भी लाले पड़ने लगे। चेहरे पर कितनी परेशानी नजर आती है।" बात उलटी थी। उन्हीं दिनों मुझे पाठ्य-पुस्तकों से दो हजार इकट्ठे मिले थे और मैं मजे में जी रहा था। पर यह भी सही है कि मेरे मुख पर कष्ट और परेशानी के भाव रहे होंगे। बात यह थी कि मैंने यह सोच कर कि अब जाने कब नया जूता प्राप्त होता है, एक जोड़ा पहन लिया था। वह बुरी तरह काटता था। बस यही एक दुःख था। मैं जूते को छोड़ नहीं रहा था। जिंदगी भी तो कितनों को काटता हुआ जूता ही है, पर पहने रो रहे हैं। मैं पानी पीकर जहर पीने का श्रेय ले रहा था। कण्ठ स्याही से रँगा जाता था। मैंने शीघ्र ही ढीला जूता खरीद लिया। दर्द सहा नहीं जाता था और फिर दया का पात्र होना कोई सुखदायक अनुभव नहीं है। समर्थ होकर भी करुणा जैसी मूल्यवान, लोक-मंगलकारी भावना को खींचना, सरासर चोरी है, धोखा है।

पर देख रहा हूँ कि इस जमाने में दुहरा शोषण चल रहा है—आदमी की रोटी तो छीनी ही जाती है, उसके हिस्से को करुणा भी छीन ली जाती है। शंकर के नाम पर एक पक्षी ही 'नीलकण्ठ' बना फिरता है और श्रद्धालुओं की श्रद्धा-भक्ति लेता है। आस-पास नीले कण्ठ के परिन्दे उड़ते देखता हूँ और इनकी भीड़ में वास्तव में बिषपान करने वाला बेचारा किसी कोने में दुबका खड़ा रहता है।

15
बेतवा के तीर पर

विद्यानिवास मिश्र

साहित्य के विकास की धारा वेत्रवती के कुञ्जों में चिरकाल से उलझी रही है। इसकी और इसकी सहायक नदियों के ही किनारे उज्जयिनी, धारा, विदिशा-जैसी प्राचीन साहित्य की राजधानियाँ बसीं और इसी के किनारे कालान्तर में लगभग तीन सौ वर्षों तक हिन्दी साहित्य की राजधानी फूलती-फलती रही। चतुर्भुज मन्दिर की छत पर खड़े होकर जब मैंने व्यासपुरा के खण्डहरों को देखा और मुझे बताया गया कि मित्र, केवल हरीराम व्यास, प्रवीणराय आदि कलाकारों की हवेलियाँ अमुक-अमुक हैं, तो मुझे लगा कि ओरछा, तेरा कैसा सौभाग्य है कि हिन्दी के इतने प्रसिद्ध कवियों के सही जन्मस्थान कौन कहे, घर-द्वार की भी तुमने रक्षा की है, जबकि अधिकांशतः महाकवियों की जन्मभूमि के प्रश्न को लेकर जाने कितने सन्देह और वाद-विवाद बढ़ते चले जा रहे हैं। दूसरे ही क्षण मैंने यह सोचा कि हिन्दी का दुर्भाग्य भी कैसा प्रचण्ड है कि अपनी जानी निधियों की भी स्मृति वह उचित रूप से रक्षित नहीं कर पाती है। आज जब हिन्दी को समस्त भारत में सम्मान मिलने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ, तो उसकी विपदकालीन आश्रयभूमि उपेक्षित पड़ी रहे, यह दुर्भाग्य नहीं, तो क्या है।

प्रति रामनवमी के दिन झाँसी से महाकवि केशव के वंशज आकर उनके घर की दालान में बुहारू लगा देते हैं। इसी में केशव की आत्मा का पूरा तर्पण हो जाता है। कभी यहाँ हिन्दी का संग्रहालय हो सांस्कृतिक केन्द्र हो या कुछ और साहित्यिक आयोजन का केन्द्र हो, इसे सोचने का भार मानो हिन्दी बोलने वालों और पढ़ने वालों पर है ही नहीं।

सबसे मार्मिक स्थल वहाँ का फूल बाग है, बेला की क्यारियों के बीच एक छोटा-सा मण्डप है। उस मण्डप की छत एकदम जीर्ण-शीर्ण हो गयी है, जैसे-जैसे ईंटों के खम्भों पर थमी हुई है और असंख्य लाल भुनगों से आक्रान्त बीर हरदौल की समाधि है, जिस हरदौल की आहुति के गीत बुन्देलखण्ड में गाँव-गाँव, घर-घर गाये

जाते हैं और बिना उनके गीत के कोई भी काम पूरा नहीं उतरता, ऐसी प्रबल मान्यता लोक-विश्वास में बस गयी है। पर हाय रे लोक-श्रद्धा का अपार्थिव रूप कि चार-पाँच सौ रुपए से कम में भी सुधरने वाली इस प्रेम-समाधि का पुनर्निर्माण नहीं हो पा रहा है। फूल बाग भी उजड़-सा रहा है। इस फूल बाग में घूमते-घूमते मुझे हरदौल की कथा याद आयी और बुन्देलखण्ड के कोकिल मैयालाल व्यास की 'हरदौल जू का विषपान' शीर्षक कविता भी स्मरण हो आयी, जिसमें ईर्ष्या, कर्त्तव्य, प्रेम और बलिदान की अनूठी योजना गुम्फित कर दी गयी है। ओथेली और डेसडेमोना की करुण कहानी तो तीव्र होते हुए भी इस आहुति के आगे ओछी पड़ती है।

कथा यों है कि महाराज जुझार सिंह और हरदेव सिंह (हरदौल) सगे भाई थे और दोनों के बीच में प्रगाढ़ प्रेम-सम्बन्ध था; पर अनदेखना चुगलखोरों से यह बात सही नहीं गयी और उन्होंने जुझार सिंह के पास, जो कि प्रायः दिल्ली रहा करते थे, एक गुप्त सन्देश भेजा कि आपकी रानी का हरदौल से अनुचित सम्बन्ध है। जुझार सिंह के मन में ईर्ष्या की आग दहक उठी। वे तुरन्त ओरछा के लिए प्रस्थित हुए। ओरछा आते ही उन्होंने अपनी रानी से कहा कि यदि तुम्हारा सतीत्व अखण्ड और विशुद्ध है तो उसकी परीक्षा यही है कि तुम अपने हाथ से हरदौल को विष दे दो। दुरन्त और दुस्सह अन्तर्द्वन्द के अनन्तर रानी ने अन्त में पूरी गाथा अपने दुलारे देवर को सुना दी और हर जैसे निर्विकार वीर हरदौल ने हँसते-हँसते विष ले लिया तथा विन्ध्य-भूमि और विन्ध्य-भूमि की रानी की जय बोलते हुए प्राण विसर्जित कर दिये। इतने ही में जुझार सिंह को भूल मालूम हुई, पर पंछी उड़ चुका था। उस करुण-बलिदान में दम्पति का हृदय एकाकार हो गया और न केवल ओरछे में हरदौल की समाधि बनी, बल्कि गाँव-गाँव हरदौल का चबूतरा बना और कोई भी मांगलिक कृत्य हो, हरदौल का गीत उसका एक अनिवार्य अंग बन गया।

उसी प्रेम-समाधि के किनारे खड़ा-खड़ा सोचने लगा कि जन-रागिनी और उसकी अन्तःश्रद्धा जाने कितनी घटनाओं को अपनी गहराई के जादू से दैवी रूप प्रदान कर देती है, इतिहास विफल रहता है, कला समय का आघात बर्दाश्त नहीं कर पाती और साहित्य कभी-कभी पन्नों में सोया रह जाता है, किन्तु लोक-रागिनी का स्वर आँधी-पानी के बीच समय की उद्दाम-धारा के बहाव के बीच, विस्मृति के कितने अभिचारों के बीच भी उसका स्वर शाश्वत बना रहता है और यद्यपि यह नहीं पता चलता कि किस युग से, किस घटना से और किस देश से उसका सम्बन्ध है और यह भी नहीं पता चलता कि उसके कितने संस्मरण अपने-आप अनजाने कण्ठों द्वारा हो गये हैं, पर उसमें जो सत्य सत्त बनकर खिंच आता है, उसे कोई भी हवा उड़ा नहीं पाती, क्योंकि वह सत्य बहुत भारी होता है।

इसके बाद हम लोग सिद्ध खंगार की गुफा देखने गये। पता चला कि चतुर्भुज मन्दिर के स्वर्ण-कलश को चुराने का विफल प्रयत्न करने वाले एक चोर की

वह साधना भूमि है और पूछने-जाँचने पर पता चला कि दो व्यक्तियों ने स्वर्ण-कलश चुराने की योजना बनायी। उनमें एक था खंगार, जो कि कलश लेने ऊपर चढ़ा और दूसरा नीचे पहरा देता रहा। कलश लेकर खंगार विकट रास्ते से उतरते-उतरते एकदम स्तम्भित हो गया। उसने देखा कि महाराज मधुकरशाह भोर में घूमने निकले हैं और पहरेदार साथी जान छोड़कर भाग गया है। उसे और भी अधिक आश्चर्य हुआ, जब महाराज मधुकरशाह ने उसे बहुत प्रेम से बुलाया और कहा कि "भाई, मैं तुम्हारे दुस्साहस की सीमा पर प्रसन्न हूँ। तुम्हारा अपराध तो पहले ही क्षमा कर दिया। अब जो चाहो, वह माँग लो।" अप्रत्याशित क्षमा से उस पेशेवर चोर की मनोवृत्ति एकदम पिघल गयी और उसने केवल यही माँगा कि जहाँ किसी से मेरी भेंट न हो, जहाँ कोई भी मुझसे मिलने न जाय, ऐसे स्थान में रह कर एकान्त साधना करने की व्यवस्था यदि आप करा सकें, तो इसी को मैं सबसे बड़ा उपकार मानूंगा। महाराज ने उसे और कुछ देना चाहा, पर अपने असामाजिक अपराधों का प्रायश्चित करने की ग्लानि उसके मन में इतनी अधिक थी कि उसको समाज में मुँह दिखाना भी मृत्यु-यन्त्रणा लगने लगा। उसी की यह गुफा थी, जो न केवल पाप की प्रतिवेदन की साकार मूर्ति थी, बल्कि मध्ययुगीन न्याय का एक जीवन्त प्रमाण भी, वह न्याय जो कि मनुष्य की दुर्बलताओं से ऊपर उठने का अभिमान न करता हो।

इतने में धूप प्रखर हो चुकी थी और मैं नया-नया ज्वर से उठा था, इसलिए बड़ी दारुण प्यास लग रही थी, केवल महाकवि केशव के वंशजों का उत्साह मुझे खींच ले जा रहा था। केशव के घर के खण्डहर तक पहुँचते-पहुँचते उनकी दालान में किसी कदर निढाल हो करके मैं भहरा पड़ा। मुझे ऐसा लगा कि केशव के मर्मान्तिक दुःख की हेतु—जरा जर्जरता मेरे अंग-अंग में छा गयी हो, वहाँ के स्थानीय कार्यकर्त्ता मुन्नूलाल जी ने दया की और मुझे सितामय प्रसाद की डली के साथ जल से कण्ठ सींचने को मिला। तब जाकर केशव की सुधि आयी और साथ में भेजे गये कानूनगो साहब की सहायता से भवन के नक्शे की नाप-जोख और मरम्मत का तखमीना लगाने बैठा। मेरे मित्र गौरीशंकर द्विवेदीजी का उत्साह इस दिशा में प्रशंसनीय है। विन्ध्यप्रदेश की राज्य सरकार ने उन्हीं के आवेदन पर इस केशव-स्मारक भवन का सुधार-कार्य अपने हाथ में ले लिया है।

केशव के घर में केवल एक दालान और वह भी छत नदारद, बाहरी बरामदे की दीवालें, घर के दरवाजे कुछ-कुछ साबूत बने हुए हैं। इस मकान से थोड़ी ही दूर पर प्रवीणराय वैश्य का भवन है। यह स्मरण आया कि केशव ने इसी दालान में बैठकर 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'रामचन्द्रिका', 'जहाँगीर जसचन्द्रिका', 'विज्ञानगीता', 'वीरसिंहदेव-चरित' आदि ग्रन्थों पर अपनी लेखनी चलायी होगी।

लगा भी यह कि कौन जाने जीवन के अन्तिम भाग में घर-गृहस्थी की झंझटों से मुक्त होकर, अपने आश्रयदाता के व्यवहार से उदासीन होकर एकान्त रूप से यहाँ साधना करने बैठे होंगे और इस दालान में जाने कितनी सन्ध्याएँ उनकी काव्य-चर्चा और मर्मज्ञ प्रवीणराय की मर्मस्पर्शिनी समालोचना से मुखरित रही होंगी; क्योंकि केशव के जीवन का अन्तिम भाग काफी दग्धता और विरक्ति से भरा हुआ है। पर इतना स्पष्ट है कि प्रवीणराय के साथ उनकी साहित्यिक मैत्री एक क्षण भी शिथिल नहीं हुई। वैसे यहाँ पर प्रवीणराय के दो-दो मकान हैं; पर प्रवीणराय के एकान्त निवास-वाला भवन महाकवि के घर की सन्निधि में ही है। जिन लोगों के मन में केशव के काव्य के बारे में रूखेपन और पाण्डित्य का भ्रम है, उन्हें कदाचित् यह पता नहीं है कि केशव हिन्दी के उस मध्य युग के कवियों में सबसे अधिक व्यवहारविद्, लोक-कुशल और मनुष्य के स्वभाव के मर्मज्ञ कवि हैं। भाषा में परम्परा के विशिष्ट अध्ययन का प्रभाव जरूर है, पर तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए क्लिष्टतार्थता नहीं है। जीवन में राजनीति और कविता दोनों को एक सत्य निबाहने में यदि कोई सफल हो सकता है तो वह केवल और राजनीति में भी आदर्श और यथार्थ, सिद्धान्त और व्यवहार तथा देश और व्यक्ति इन सभी के बीच में सामंजस्य स्थापित करना केशव का लक्ष्य था। इन दृष्टियों से केशव का अध्ययन विशद रूप से होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना सही-सही मूल्यांकन उनका हिन्दी साहित्य के इतिहास में हो नहीं सकता।

विन्ध्य-प्रदेश सरकार इस केशव-भवन के पुनरुद्धार तथा सिंगार के लिए प्रयत्नशील है। साथ ही केशव-परिषद् भी इसके सन्नद्ध हैं; पर ओरछा तो हिन्दी कविता की राजधानी रही है। हरीराम व्यास की जन्मभूमि होने का भी इसे सौभाग्य प्राप्त है और अभी तक व्यास जी का भवन भी मौजूद है। व्यासजी का महत्त्व भक्त-कवियों में अब तक बहुत ही उपेक्षित-था और उनके बारे में सही-सही जान-कारी निर्विवाद रूप से उपलब्ध थी। पर हाल ही में उन्हीं के वंशज और मेरे मित्र श्री वासुदेव गोस्वामी ने एक विवेचनात्मक ग्रन्थ, जिसमें उनकी वाणी भी संग्र-हीत है, हिन्दी को भेंट किया है। प्रसंगवश यहाँ इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त होगा कि यह ग्रन्थ गोस्वामीजी की निजी दायित्व की ही पूर्ति नहीं करता, बल्कि समस्त हिन्दीवालों के पुण्य कर्त्तव्य की भी। ओरछा में आश्रय पाने वाले और भी कवियों की—कलाकारों की स्मृति आज के खण्डहरों में पड़ी हुई है। पुराने कागजों के अम्बार में कितनी विरल और प्रकाशित रचनाएँ दुबकी पड़ी हैं, नहीं बता सकता। बताने से लाभ भी क्या, जबकि परखने वालों में प्रकाशन का विशेष उत्साह न हो। आज को जीवित साहित्यकार को उसकी प्रतिभा का प्रतिकर देने की आवाज कितने कोनों से उठायी जाती है, इसका आकलन करते समय मुझे यह लगता है कि सरकार या इस दिशा में कार्य करने वाली किसी प्रतिष्ठित संस्था का पहला कर्त्तव्य,

जो जीवित नहीं हैं, उन साहित्यकारों की कृतियों का प्रकाशन होना चाहिए, क्योंकि साहित्य का कोई भी कृतिकार अपने लिए नहीं लिखता। वह केवल अपनी दाय छोड़ जाता है। यह सही है कि प्राचीन युग की बहुत-सी रचनाएँ ऐसी भी होंगी, जो अपने लिए लिखी गयी होंगी अर्थात् उसके लिखने से अपनी पूजा हुई होगी; आगे आने वाली पीढ़ी के लिए निजी भोग से कुछ बचा न होगा, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उस युग की समस्त देन को बुहारू लगाकर बेतवा की धार में विसर्जित कर दिया जाय, क्योंकि उस युग की नाड़ी की धड़कन यदि कहीं मिल सकती है, तो इन्हीं रद्दी की टोकरियों में। मनुष्य का कोई भी इतिहास मलिन नहीं होता, उसका कोई भी दान, यदि वह सचमुच दान है, तो छोटा नहीं होता। दान को दान की मात्रा से नहीं, देने वाले की शक्ति से मानना चाहिए।

ओरछा का राजकीय वैभव जहाँगीर महल में स्मृति-शेष रूप में मोजूद होते हुए भी उतना विशेष महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि वैभव की देवी चंचल होती है। जिसे शाश्वतता कहते हैं, वह उसका प्राप्य नहीं है और कोई भी राज्य या उसका प्रतिनिधि यदि समय की कूँची से नाम-शेष रहता है, तो केवल अपनी उस काया से, जिसके कारण सरस्वती के वाहन को नये पंख मिलते हैं।

स्थापत्य-कला की दृष्टि से चतुर्भुज मन्दिर का एक विशिष्ट महत्त्व है, वह यह कि बुन्देला स्थापत्य-कला का वह एकमात्र सजीव उदाहरण है। इस बुन्देला स्थापत्य-कला में वातायन और गुम्बद नागर शैली में नयी कड़ी के योग हैं। राम-मन्दिर महाराज भारतीचन्द द्वारा निर्मित महल है जो बाद में महाराज मधुकरशाह की महारानी गणेश कुँवीर का निवास-भवन हो गया था। महारानी ने यहाँ अयोध्या से लाकर राम की मूर्ति स्थापित की थी।

रामनवमी के दिन यहाँ बहुत बड़ा मेला लगता है और उसी समय महाकवि केशव की जन्म-तिथि भी मनायी जाती है। दूसरा प्रसिद्ध मन्दिर पश्चिम-उत्तर कोने में अवस्थित लक्ष्मीजी का है, जिसके अन्दर अठारहवीं औकु उन्नीसवीं शताब्दी के सुन्दर भित्तिचित्र अंकित हैं। दुःख इतना ही है कि बुन्देला कलम की इस अनुपम देन की बीच में कुछ ऐसी दुर्दशा कुछ हृदयहीन लोगो ने की है कि कोई भी चित्र खरोंच लगाये बिना क्या, दर्शक के बाबा-दादों की सुकीर्ति-गाथा से अरूप हुए बिना बचा नहीं है। मुझे तो ऐसा लगा कि जिन-जिन लोगों ने अपने बाप-दादों के समेत अपने पते वहाँ उत्तीर्ण किये हैं, उन सबका एक रजिस्टर बनवाकर एक बड़ी संगमरमर की शिला पर निहायत काले अक्षरों से सम्बद्ध रूप से उनके नाम अंकित करा दिये जायें और प्रत्येक ऐसे सज्जन को कम-से-कम बीस बेंत की सजाएँ देने के लिए कोई भी विशेष कानून बनाकर उसी शिलालेख के समक्ष सजा दी जाय तब कहीं जाकर उन कलाकारों की प्रताड़ित आत्मा जुड़ा सकेगी।

घूमते-घामते काफी देर हो गयी थी और दतिया का आमन्त्रण जोर मारने

लगा था। अपने मित्र गौरीशंकरजी द्विवेदी के साथ झाँसी लौटते समय मोटर में बार-बार सोचता रहा कि जहाँ वीरसिंहदेव, मधुकरशाह, हरदौल और अभी हाल के अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद ने देश की आन पर अपनी आहुति दी हो और उनकी आहुति की वेदी पर भारती ने अपने विचित्र शृंगार छींटे हों, वहाँ क्या आज एक सांस्कृतिक तीर्थ स्थापित नहीं किया जा सकता। कितना स्थान यहाँ पर अपनी रिक्तता में बिलख रहा है, कितनी स्मृतियों के तार यहाँ पड़े-पड़े जंग खा रहे हैं, कितनी कल्पनाएँ यहाँ अदृश्य छाया-सी पंख फड़फड़ा रही हैं। क्या उनका आमन्त्रण कभी हमारे बहरे कानों अक पहुँचेगा, जो अपने-अपने हिन्दी-प्रेम, संस्कृति-प्रेम के नारों से संसार-भर को बहरा बनाए हुए हैं ? चलते-चलते मैंने ओरछा की स्मृतियों से द्रवित बेतवा की रसधार को प्रणाम किया, वह रसधार जिसने जाने कितनी संस्कृतियों का मिलन-विछोह, विकास-ह्रास देखा है और जाने कितनी अमर संजीवनी मूर्च्छनाओं की प्रतिध्वनि अपनी लहरियों के गान में भरी ,हैं कितनी आहुतियों की दीपमालाएँ अपने वक्षस्थल पर उसने ज्योतित की हैं, जाने कितने देश के दुःख-दर्द से आकुल और सन्तप्त कवियों के मेघदूतों ने उसमें प्यास बुझायी और अपने गन्तव्य स्थान की यात्रा के लिए पानी भरा है। मालवों, भारशिवों, वाकाटकों, परमारों, चन्देलों और बुन्देलों की कीर्ति-कौमुदी से कितना अमृत उसे प्राप्त हुआ है, इन सबको आँकने के लिए भी आज हमें अवकाश नहीं है। हम नये इतिहास का निर्माण करने चले हैं, पर हमें उसके आधार का पता नहीं है, मानो हमारी इस नादानी पर उसकी लहरें खिलखिला रही हों। मैंने इस हास्य को प्रणाम किया।